साहित्य-सुमन-माला का बीसवाँ पुष्प

सोहाग की डिबिया

तथा

अन्य-कहानियाँ

(मौलिक कहानी-संग्रह)
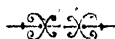
लेखक

पं० तारादत्त उप्रेती
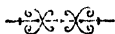
प्रकाशक

नवलकिशोर-प्रेस,

लखनऊ.
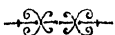
प्रथमावृत्ति] १९३५ ई० { मूल्य १) सजिल्द १।)

भूमिका

पं० तारादत्त उप्रेतीजी ने जब मेरे पास अपनी पुस्तक 'सोहाग की डिबिया' भेजी तो उसे पढ़कर मैं उनकी साहित्यिक कृति का क़ायल हो गया। उनकी प्रत्येक कहानी में पवित्रता की एक विशेष धारा बहती है, जो उसमें नयी चमक ला देती है। इससे सब कहानियों में एक ऐसी सरल मधुरता आ गई है, जो हिन्दी में दुर्लभ है। इसके साथ-साथ लेखक ने इस बात का ध्यान रक्खा है कि प्रत्येक कहानी में उन युवक-युवतियों का वर्णन हो, जो किसी भी समाज के रत्न गिने जायें। इसका अर्थ यह नहीं कि उप्रेतीजी ने पापी हिन्दू-समाज की बुराइयों को अछूता छोड़ दिया है। उन पर भी तीव्र भाषा में आग के गोले बरसाये हैं कि वे भस्म हो जायें।

'सोहाग की डिबिया' के कई चरित्र बड़े उज्ज्वल और ओजस्वी हैं, किन्तु उनकी ओजस्विता उद्दण्डता में परिणत नहीं होने पाई। 'सेवा-मार्ग' की मुन्नी ऐसी ही है। भाई प्रेमचन्दजी की 'निर्मला' पुस्तक पढ़कर उसमें विवाह से विरक्ति पैदा हो गई। अनमेल विवाह के सर्वनाशी दृश्य ने उसके हृदय में विवाह के विरुद्ध विद्रोह मचा दिया। उसने फिर विवाह न किया, भले ही

उसके पिता की साध मन-ही-मन में रह गई। हमें तो ऐसा मालूम पड़ता है कि इस वीर और विदुषी युवती ने अँगरेज़ी में भी कुछ ऐसी पुस्तकें पढ़ी होंगी, जिन्होंने उसकी आँखों के सामने इतिहास का वह अध्याय रक्खा हो, जो अनंत-काल से नारी पर पुरुष के भीषण अत्याचारों का नारकीय वर्णन करता है। अन्यथा युवती 'मुन्नी' विवाह की शत्रु न बनती। जो हो, यह चरित्र अनूठा है। 'यादगार' कहानी में भी कंचनकुमार के हृदय में—अपने 'अभिन्न-हृदय' मित्र निर्मल बाबू का अपने प्रति अविश्वास देखकर—मनुष्यजाति के प्रति वितृष्णा का भाव इतना प्रचंड तूफ़ान मचाता है कि वह न-मालूम किस विजन-प्रदेश में पशु-पक्षियों के बीच विलीन हो जाता है। ऐसे कई चरित्र उग्रेतीजी के अपने हैं। मैं लेखक को उनकी इन सुन्दर कहानियों के लिए बधाई देता हूँ, और आशा करता हूँ कि हिन्दी-संसार इस पुस्तक का आदर करेगा।

धामपुर,
वसंतपंचमी, १९९१ वि०

हेमचंद्र जोशी

निवेदन

'सोहाग की डिबिया' के नाम से प्रस्तुत पुस्तक साहित्य-पारखी पाठकों के सम्मुख उपस्थित करते हुए मुझे संकोच एवं हर्ष, दोनों का समान-रूप से अनुभव हो रहा है। संकोच इसलिए कि यह मेरा प्राथमिक प्रयास है, तथा हर्ष का कारण यह है कि राष्ट्रभाषा हिन्दी के मंदिर में अपनी-अपनी सामर्थ्य के अनुसार श्रद्धाञ्जलि भेंट करने का सभी को समान-रूप से अधिकार है।

'सोहाग की डिबिया' की सभी कहानियाँ समय-समय पर 'माधुरी' एवं मासिक 'विश्वमित्र' के द्वारा सहृदय पाठकों के सामने आ चुकी हैं। अनेकों प्रेमी-पाठकों एवं उपर्युक्त पत्रों के संपादक महानुभावों ने इनके संबंध में अपने विचारों से मुझे अधिकाधिक प्रोत्साहित भी किया है। मैं उनका हृदय से कृतज्ञ हूँ। 'माधुरी' के भूतपूर्व संपादक सुप्रसिद्ध उपन्यासकार श्रद्धेय प्रेमचंदजी का विशेष-रूप से यहाँ पर उल्लेख न करना कृतघ्नता होगी। प्रेमचंदजी की ही प्रेरणा एवं सदुपदेशों से मेरी इस ओर प्रवृत्ति हुई, जिसका परिणाम यह पुस्तक है। वे मेरे आदि-गुरु हैं, यह मेरे लिए कम गौरव की बात नहीं। 'माधुरी'-कार्यालय में ४-५ साल तक उनके सहयोग में रहने का मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ था। उन दिनों की सुखद-स्मृति आज भी आँखों के सामने नाच रही है, तथा चिरकाल तक विद्यमान रहेगी। अतएव मैं उनका विशेष-रूप से कृतज्ञ हूँ।

नवलकिशोर-प्रेस एवं इस्टेट के वर्तमान अध्यक्ष, स्वनामधन्य श्रीमान् मुन्शी रामकुमारजी भार्गव के राष्ट्रभाषा-प्रेम से पाठक भली भाँति परिचित हैं। हज़ारों सुप्रसिद्ध ग्रंथों एवं 'माधुरी' के प्रकाशन द्वारा आप साहित्य की जो मूल्यवान् सेवा कर रहे हैं, वह सर्वविदित है। प्रकाशक की हैसियत से इस पुस्तक को आपने अपने सुप्रसिद्ध प्रेस से प्रकाशित करने की जो आज्ञा प्रदान की है, उसके लिए मैं आपका अत्यन्त अनुगृहीत हूँ।

इस प्रसंग में नवलकिशोर-बुकडिपो के मैनेजर बाबू हरिरामजी भार्गव का भी उल्लेख करना आवश्यक है। इस पुस्तक के प्रकाशन के संबंध में उन्होंने जो सुविधाएँ प्रदान की हैं, उनके लिए मैं उनका आभार स्वीकार करता हूँ। 'माधुरी' के वर्तमान संपादक श्रद्धेय पं० रूपनारायणजी पांडेय को भी मैं यहाँ पर सादर स्मरण करता हूँ, जिन्होंने इसके प्रूफ़-संशोधन आदि में समय-समय पर अपने सत्परामर्शों से मुझे अनुगृहीत किया है।

अन्त में श्रद्धेय डाक्टर हेमचन्द्रजी जोशी के प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करना भी मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ, जिन्होंने अपना अमूल्य समय दिया, तथा इसकी भूमिका लिखकर मुझे गौरवान्वित किया है।

यदि पाठकों का इससे कुछ भी मनोरंजन हुआ, तो मैं अपना श्रम सफल समझूँगा।

हज़रतगंज,
लखनऊ.
१५-२-३५

विनीत
तारादत्त उप्रेती

समर्पण

सेवा में—

सर्वगुणगणालंकृत, हिन्दी के अनन्य प्रेमी

श्रीमान् मुंशी रामकुमारजी भार्गव

अध्यक्ष—नवलकिशोर इस्टेट,

लखनऊ.

श्रीमन्,

लेखक को अपनी पहली रचना उतनी ही प्रिय होती है, जितनी मनुष्य-मात्र को अपनी पहली सन्तान; और अपनी प्रिय वस्तु उसी को अर्पण भी की जाती है, जो विश्वास, आदर और श्रद्धा का पात्र हो। श्रीमान् मेरे परम आदरणीय हैं। साथ ही आपका हिंदी-प्रेम सोने में सुगंध के समान है। यह मेरी पुस्तक एक प्रकार से आप ही की चीज़ है। कारण, इसका इस सुंदर रूप में प्रकाशित हो सकना आपकी ही कृपा का फल है। अतएव—"त्वदीयं वस्तु गोविन्द, तुभ्यमेव समर्पये"—आपकी यह वस्तु आप ही के कर-कमलों में सादर समर्पित है।

तारादत्त उप्रेती

सोहाग की डिबिया
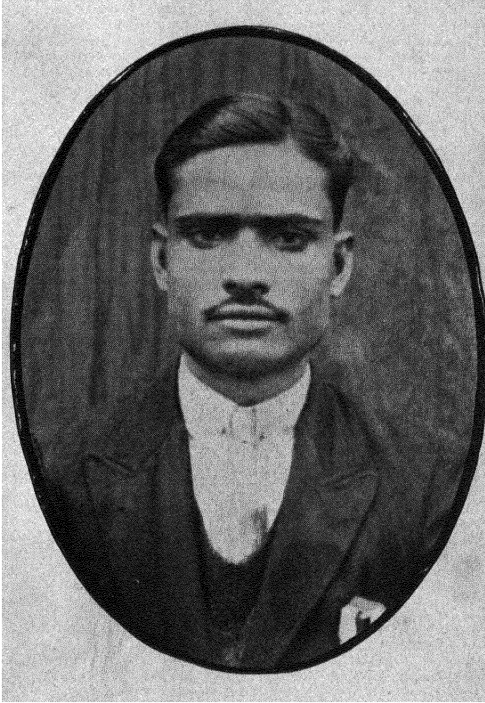
पं० तारादत्त उप्रेती

प्रेमोपहार

श्रीमान्

सूची
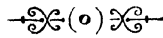
सोहाग की डिबिया

सोहाग की डिबिया

(१)

सूर्य भगवान् क्षितिज के उस पार पहुँच चुके हैं। अँधेरा हो चला है। हिंदू-बोर्डिंग-हाउस के एक कमरे में खिड़की के पास एक मेज़ तथा दो कुर्सियाँ पड़ी हुई हैं। सामने ही एक अत्यंत रूपवती युवती कुर्सी के सहारे बैठी हुई कुछ अन्यमनस्क दृष्टि से विद्युत् के प्रकाश में एक पुस्तक के पन्ने उलट-पुलट रही है। बीच-बीच में वह दरवाज़े की ओर ताकती और पुनः अपनी दृष्टि पुस्तक पर जमाने का असफल प्रयत्न करती है, जिससे ज्ञात होता है कि वह किसी आगंतुक के आने की प्रतीक्षा कर रही है। लगभग पंद्रह मिनट के बाद दरवाज़े का किवाड़ खुला, और एक युवक ने मुसकराते हुए कमरे में पदार्पण किया।

युवती ने खड़ी होकर अपनी मृदु-मुस्कान से युवक का स्वागत किया और कुर्सी की तरफ़ इशारा करते हुए कहा--"आइए"।

"एकांत में बाधा पहुँचाने के लिए क्षमा कीजिएगा"—युवक ने कुर्सी पर बैठते हुए उत्तर दिया।

"आप तो तकल्लुफ़ करने लगे"—युवती ने लजीली चितवन से निहारकर कहा।

"वाह, सच्ची बात में तकल्लुफ़ कैसा!"

"अच्छा, आप जा कब रहे हैं?"

युवक ने किंचित् हँसते हुए विनोद के तौर पर कहा—"वाह, यह ख़ूब रही! अभी आते देर न हुई कि आप......"

"नहीं, मेरे कहने का आप दूसरा ही तात्पर्य लगा गये।"—युवती ने बात काटते हुए उत्तर दिया।

युवक बोला—"शायद कल सुबह की ही ट्रेन से चला जाऊँ।"

"इतनी जल्दी क्या पड़ी है? अभी तो क्लास के वे लोग तक नहीं गये, जिन्हें प्यासी आँखों से उत्सुकता-पूर्वक अपनी........."

"ईश्वर न करे, मुझे उस दिन तक इस चहारदीवारी के अंदर ही पड़े रहने का सौभाग्य अथवा दुर्भाग्य प्राप्त हो। चंपा, वास्तव में हमारे लिए यह परम गौरव का विषय है कि इस स्थिति में भी हम दोनों उक्त चिंता से एकदम मुक्त हैं।"

"तो फिर, इस जल्दी का कारण?"

"देखो, पिताजी का न-मालूम कैसा ख़याल है, कुछ समझ में नहीं आता। परीक्षा समाप्त हुए अभी दो दिन

भी पूरे नहीं हुए, शीघ्र चले आने के लिए यह दूसरा तार पहुँच गया है। न-मालूम क्या सोचते हों, इसलिए कल ही की ट्रेन से चले जाने का विचार है।"

चंपा ने दबी हुई ज़बान से कहा--"मुझे तो इस 'बुलाहट' में किसी विशेष रहस्यपूर्ण घटना की आशंका प्रतीत होती है। आपका क्या अनुमान है?"

युवक ने चंपा के कहने का तात्पर्य समझकर कहा—"हाँ, मेरा भी जहाँ तक अनुमान है, ये तार किसी विशेष प्रयोजन से ही भेजे गये हैं। किंतु जो कुछ भी हो, तुम्हारी आशंका सर्वथा निर्मूल है। चंपा, क्या इस जीवन में मैं तुम्हें कभी भूल सकता हूँ? मैं सच्चे हृदय से तुम्हें अपनी जीवन-संगिनी चुन चुका हूँ। ऐसी हालत में दुनिया की कोई भी शक्ति मुझे अपने निश्चय से विचलित नहीं कर सकती।"

चंपा ने प्रेम-पूर्ण स्वर से दीनताभरे शब्दों में कहा—"क्या मैं आशा करूँ कि घरवालों के अनुचित दबाव एवं अन्य प्रलोभनों के सामने आँख की ओट होने पर भी आपको अपनी प्रतिज्ञा कभी न भूलेगी?"

"अवश्य। अच्छा, अब आज्ञा दो। अभी बाज़ार जाकर कुछ सौदा भी ख़रीदना है। पत्र तो बराबर लिखोगी न?"

"ज़रूर। क्या अभी फिर न आइएगा?"

"कदाचित् न आ सकूँ।"

"अच्छा जाइए, भूलिएगा नहीं।"

"क्या यह भी कभी संभव है!"--युवक ने पीछे फिरते हुए कहा। उसने देखा, चंपा अपनी आँखों से ढुलके हुए प्रेमाश्रुओं को रूमाल से पोंछ रही है।

(२)

चंपा और किशोर हिंदू-विश्वविद्यालय के भिन्न-भिन्न श्रेणी के छात्र थे। दोनों के दिलों में एक-दूसरे के प्रति असीम प्रेम एवं अपरिमित श्रद्धा थी। गत दो-तीन वर्षों से दोनों बोर्डिंग में ही रहते चले आ रहे थे। अध्ययन के इस सुदीर्घ काल में दोनों को एक-दूसरे के मनोभावों को परखने का वह स्वर्ण-संयोग प्राप्त हुआ, जो अन्य किसी प्रकार संभव न था।

चंपा वास्तव में सुन्दरी थी। उसके प्रभा-पूर्ण आलोकित मुख-मंडल पर स्त्री-सुलभ लज्जा की एक अनुपम मृदु-मुसकान हर समय खेलती रहती। क्लास का हर एक छात्र उसके कृपा-कटाक्ष के लिए तरसा करता। यहाँ तक कि प्रतिभाशाली प्रोफ़ेसरों के गंभीर विषय-युक्त लेक्चरों के समय भी अधिकांश आँखें तृषित चातक की भाँति उसे ही निहारा करतीं। किंतु चंपा यह सब जानते हुए भी मानों बिलकुल अजान-सी थी। उसकी बड़ी-बड़ी रसीली आँखें प्रेम के इस कपट-पूर्ण व्यापार

को उपेक्षा की दृष्टि से देखकर टाल जातीं। तो क्या, उसका हृदय प्रेम-शून्य था ? नहीं, यह बात नहीं। हो ही कैसे सकता है ? उन लोगों की दृष्टि में भले ही वह ऐसा हो, किंतु एक रमणी-हृदय के नाते उसमें तो उनकी अपेक्षा एक तो यों ही कहीं अधिक प्रेम का होना स्वाभाविक था, तिस पर पूर्ण विकसित हो जाने के कारण उसकी मात्रा और भी अधिक बढ़ गयी थी। लेकिन अपनी उस पूँजी को हाट-रूप में फैलाना वह कदापि नहीं चाहती थी। वह चाहती थी, अपने ही समान कोमल उदार हृदय का आभ्यंतरिक स्थायी एवं निष्कपट प्रेम।

× × ×

अपने इन सब गुणों के कारण सौभाग्य से किशोर इस परीक्षा में उत्तीर्ण हुए और वह उनसे स्नेह करने लगी। किशोर तो उसके गुणों पर पहले ही से मुग्ध थे। फलतः दोनों के हृदय प्रेमसूत्र में बँधकर आपस में इस प्रकार मिल गये, जैसे दूध और पानी।

(३)

किशोर ने इस साल एम्० ए० फ़ाइनल की परीक्षा दी थी और चंपा ने बी० ए० के अंतिम साल की। एक तो अध्ययन-काल के समाप्त होने का परम हर्ष तथा दूसरे भविष्य-जीवन के इच्छित मार्ग पर अग्रसर होने की

लालसा को कार्यरूप में परिणत करने की महान् उत्कंठा। क्या वह भी कोई लिखने की बात है ? उसका अनुभव तो भुक्तभोगी ही कर सकता है।

किशोर घर पहुँचे, तो उन्हें अपना अनुमान सत्य प्रकट हुआ। सारे घर-भर में आनंद के बाजे बज रहे थे, परिजनों में सबके चेहरों पर हर्ष की झलक थी। सभी के दिल उमंग और उत्साह से उछले पड़ते थे। विवाह की तिथि निश्चित हो चुकी थी। केवल सब लोग उन्हीं के आगमन की उत्सुकता-पूर्वक प्रतीक्षा कर रहे थे। शुभ-मुहूर्त निकट था, सिर्फ़ सप्ताह-भर शेष रह गया था।

यह देखकर उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ, मानों उनका सर्वस्व बलात् अपहरण कर लिया जा रहा हो। उनकी दशा उस कृपण की-सी हो गयी, जो अपनी अतुल संपत्ति स्वयं अपने सामने ही लुटते हुए देख रहा हो, किंतु इस भय से कि लोगों पर मेरे धनी होने का भेद प्रकट न हो जाय, कुछ बोलता तक न हो !! वह किंकर्तव्य विमूढ़ होकर चिंता-सागर में गोते खाने लगे। शुभ कार्य की रँगरेलियों में किसी को भी उनकी इस दशा का पता न चला, और उन्हें भी इस विषय में किसी से कोई पूछ-ताछ करने की इच्छा न हुई।

लेकिन दूसरे ही दिन इस संबंध-निर्णय पर बधाई देने के लिए आयी हुई मित्र-मंडली द्वारा सब समाचार

जानकर उनके आंदोलित हृदय में विचित्र-आश्चर्यजनक एक महान् परिवर्तन हो गया।

शादी उनके ही समान उच्चकुल के एक प्रतिष्ठित गृह में तय हुई थी। लड़की के पिता उनके ही शहर में कई सालों से एक प्रतिष्ठित सरकारी पद पर नियुक्त थे। परस्पर के आपसी व्यवहार के कारण भावी पत्नी के रूप और गुणों से भी वह पूर्णतः परिचित थे। उनकी दृष्टि में वह चंपा से किसी भी बात में ज़रा भी कम न थी।

वह सोचने लगे, चंपा अवश्य मुझे प्यार करती है, और उसे मैं भी। किंतु उस प्यार में तनिक भी कपट की मात्रा नहीं कही जा सकती। हम दोनों में से किसी ने भी उस निष्कपट प्रेम का अनुचित उपयोग करने की कभी भूलकर भी चेष्टा नहीं की। क्या, भाई-बहन में प्रेम नहीं होता? इसके अतिरिक्त रूप और गुणों की साकार प्रतिमा होने पर भी तो 'बड़े घर की बेटी' कहलाने का गौरव उसे प्राप्त नहीं। वह तो एक साधारण गृह की—और वह भी पारिवारिक स्नेह से वंचित—बालिका है। उसका इस संसार में कोई भी अपना-पराया नहीं। अपनी विलक्षण प्रतिभा के बल पर भले ही वह उच्च सम्मान प्राप्त कर चुकी हो, किंतु उपर्युक्त अभावों की पूर्ति का होना तो किसी भी हालत में संभव नहीं। आदि-आदि।

चंपा से की हुई अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार इस संबंध के विरोध में कुछ कहने का साहस करना तो दूर रहा, बल्कि इसके विपरीत उन्हें तो इस संबंध में हर्ष के साथ-साथ कुछ-कुछ गर्व का भी आभास होने लगा। विचारों में कायापलट के भाव उत्पन्न हो गये। फलतः वह चंपा को एकदम भूल जाने की कोशिश करने लगे, और अपनी स्वार्थी-प्रकृति के कारण इस कार्य में वह सफल भी हुए।

(४)

शादी धूमधाम से हो गयी। वर और वधू दोनों ने हिंदू-धर्मशास्त्रानुसार विवाह-मंडप के नीचे बैठकर अग्नि एवं गो-ब्राह्मण के समक्ष वेदमंत्रों के उच्चारण द्वारा, आजीवन प्रेम-सूत्र में बँधे रहकर सुखमय जीवन व्यतीत करने की शपथ-पूर्वक गंभीर प्रतिज्ञा की।

दोनों एक-दूसरे से परम संतुष्ट थे। परस्पर अनुराग की मात्रा दिन-प्रति-दिन बढ़ती ही गयी, और दोनों एक आदर्श दंपति के रूप में जीवन के सुखमय दिवस व्यतीत करने लगे।

× × ×

इसी भाँति कई साल बीत गये।

इस मायाकृत संसार में मोह का बंधन भी बड़ा विचित्र है। एक बात जो किसी मनुष्य के लिए बड़े ही

सुख और सौभाग्य का विषय सिद्ध होती है, वही दूसरे के लिए एक महान् दुःख और दुर्भाग्य के कारण से तनिक भी कम नहीं। वही दशा चंपा की हुई।

किशोर के इस कुटिल विश्वासघात ने उसे कठपुतली की भाँति निष्प्राण-सा कर दिया। मानों, उसके जीवन की गति ही बदल गयी हो। यौवनरूपी उद्यान में खिले हुए प्रेम-कुसुम पर सहसा इस प्रकार तुषार पड़ जाने से हृदय चूर-चूर हो गया।

आह ! पुरुष-हृदय इतना निष्ठुर, कपटी, कलुषित एवं स्वार्थयुक्त हो सकता है, इसकी उसे स्वप्न में भी कल्पना तक न थी। होती भी कैसे ? उसके कोमल हृदय में तो उक्त दुर्गुणों के लिए नाम-मात्र को भी स्थान न था। हाय ! जिस किशोर को कड़ी परीक्षा के बाद उसने अपना एक-मात्र सर्वस्व स्वीकार करके आत्म-समर्पण कर दिया था, जिसकी कल्पित मूर्ति उसके हृदय-मंदिर में इष्टदेव के स्थान पर स्थापित हो चुकी थी, और यहाँ तक कि जिसके लिए उसने अनेक प्रेमी-हृदयों तक को निराश करके ठुकरा दिया था, कौन जानता था कि वही किशोर स्वार्थ के पुतले की भाँति उसे संसार-सागर में निराश्रय बहती हुई छोड़कर इस प्रकार धोखे से किनारा कर जायगा !

इन सब बातों के केवल स्मरण-मात्र से ही वह काँप

उठती, और हृदय दो टूक हो जाता। किंतु यह सब कुछ होने पर भी उसके व्यथित हृदय में किशोर के प्रति श्रद्धा एवं स्नेह में ज़रा भी अन्तर न पड़ा, बल्कि उसकी मात्रा तो महाजन के ब्याज की भाँति उत्तरोत्तर बढ़ती ही गयी। हृद्मंदिर में बसी हुई उस प्रतिमा के सिवा वहाँ तो अन्य किसी के लिए स्थान ही न रह गया था, जिसको वह लाख प्रयत्न करने पर भी न भुला सकी। उसका चोट खाया हुआ दिल दिन-रात किशोर के ही स्मरण-चिंतन में निरत रहता। अब भी वह सच्चे हृदय से किशोर की मंगल-कामना किया करती। सुकवियों की यह उक्ति अब उसे अक्षरशः सत्य जान पड़ी कि "वास्तव में संयोग से वियोग ही कहीं अधिक महत्त्व-पूर्ण है। उसके चिंतन में जो आनंद है, वह संयोग में कदापि प्राप्त नहीं।"

अंत में सांसारिक माया-जाल से उसका चित्त एका-एक फिर गया, और सेवा के भाव ही प्रबल वेग से हृदय में लहराने लगे। फलतः उसने एक महिला-महा-विद्यालय में प्रधानाध्यापिका का उत्तरदायित्व-पूर्ण पद स्वीकार कर लिया और उसी के द्वारा अपने इच्छित भावों को कार्य-रूप में परिणत करने लगी। किंतु ऐसी दशा में भी मानसिक शांति उससे कोसों दूर ही रही। उसका चित्त दिन-दिन उद्विग्न होता जाता था।

(५)

संसार परिवर्तनशील है । इसमें आये दिन महान् परिवर्तन होते ही रहते हैं। विधि के विधान द्वारा रंक को धनी और धनी को रंक होते हुए इस निखिल विश्व में ज़रा भी देर नहीं लगती । जो आज सुख के सर्वोच्च सिंहासन पर विराजमान हैं, समय के पलटा खाने पर वे ही कल दुःखद अंधकार के गहरे कूप में गिरे हुए दिखलायी पड़ते हैं । इसी नियम के अनुसार समय के फेर से किशोर के जीवन ने भी पलटा खाया। महामारी के भीषण प्रकोप में माता-पिता दोनों सांसारिक बंधनों से मुक्त होकर उनसे बिछुड़ गये। किंतु निष्ठुर काल को इतने पर भी कल न पड़ी, और कोढ़ में खाज की भाँति अंत में विपत्ति के इस कुसमय में उनकी एकमात्र जीवन-संगिनी ने भी दो दुधमुँहे बच्चों को थातीस्वरूप उनकी गोद में छोड़कर सदा के लिए उनसे मुँह मोड़ लिया।

दुर्दैव की पत्नी-वियोगरूपी इस निर्दय मार ने किशोर के हृदय-कुंड में जलती हुई दुःखाग्नि के लिए घृताहुति का काम किया । जीवन की तमाम लालसाएँ उसी में भस्मसात् हो गयीं। क्षण-भंगुर जीवन की इस अनित्यता को देखकर मनोवृत्ति में संसार के प्रति विरक्ति के भाव उत्पन्न होने लगे, किंतु थोड़ी ही देर । दूसरे ही क्षण, अबोध शिशुओं के अभूतपूर्व वात्सल्यस्नेह के आकर्षण

ने तुरंत उन्हें उस पथ से खींचकर पुनः उसी सांसारिक मायाजाल में फँसा लिया। अंत में कलेजे के टुकड़े के सदृश उन नवजात शिशुओं के मोहपाश में बँधकर, उनके लिए सब कुछ सहन करने को वह तैयार हो गये।

× × ×

मित्रों तथा संबंधियों ने किशोर से पुनर्विवाह करने का प्रबल आग्रह किया, लेकिन उन्होंने उसे एकदम अस्वीकार कर दिया। मित्र आदि ने अनेक प्रलोभन दिखाये, उनकी थोड़ी अवस्था एवं दुधमुँहे बच्चों के पालन-पोषण तथा संपत्तिशाली होने के प्रमाण पेश करते हुए उसकी आवश्यकता पर ज़ोर डाला, किंतु अनेक तर्क-वितर्क करने पर भी वे कृतकार्य न हो सके। किशोर ने इस विषय में किसी की भी एक न मानी, और अपने निश्चय पर ही दृढ़ रहे।

× × ×

इसी भाँति कई मास बीत गये।

इस मायारूपी संसार में मोह का बंधन केवल जीव के साथ ही रहता है; उसका अंत हो जाने पर विश्व के झंझावात के कारण मनुष्य उसे धीरे-धीरे प्रायः भूल-सा जाता है। यही नहीं, उसके वियोग का दुःख भी, जो ताज़ा होने पर अत्यंत दारुण तथा दुस्सह होता है, शनैः-शनैः ज्यों-ज्यों दिन बीतते जाते हैं, त्यों-त्यों कम

पड़ता जाता है, और अंत में अपने पीछे केवल एक स्मृति-मात्र छोड़कर स्वयं लुप्त-सा हो जाता है। यही मानव-संसार का नियम है। इसके विना कोई काम ही नहीं चल सकता। अस्तु।

किशोर का शोक भी समय के अंतर के अनुसार अब बहुत कुछ कम हो गया था। किंतु प्रसंग-वश कभी-कभी उनके हृदय में एक ऐसी हूक उठ आती, जो उन्हें थोड़ी देर के लिए बेचैन कर देती थी।

(६)

शिशिर का अवसान समीप था, भीनी-भीनी वसंती वायु के मंद-मंद झोंके बहने शुरू हो गये थे। लता-वृक्षादि के कुम्हलाये हुए सूखे शरीरों में पुनः नवजीवन-संचार होने के रमणीक चिह्न दृष्टिगोचर होने लगे थे। प्रातःकाल का सुहावना समय था। किशोर अपने भवन के सामने के उपवन में एक आम्रवृक्ष के नीचे बैठे हुए अपनी अतीत-स्मृतियों का सुखद चिन्तन कर रहे थे। पास ही उनके दोनों बच्चे भी आपस में खेलते हुए मनोहर बाल-क्रीड़ाएँ करने में निमग्न थे। किंतु वह अपने विचारों में इतने तन्मय थे कि उस ओर उनका बिलकुल ध्यान ही न था। सहसा किसी सुललित कंठ की एक करुण ध्वनि ने उनकी समाधि तोड़ दी। सामने एक स्त्री उनके दोनों बच्चों को सतृष्ण नेत्रों से

ताकती हुई बड़े ही मीठे रसीले स्वर से हृदयग्राही राग में गा रही थी--

चुनि-चुनि कंकड़ महल बनाया,
लोग कहैं घर मेरा रे—
ना घर मेरा ना घर तेरा,
चिड़िया रैन बसेरा रे ॥

गाने के उस वीणा-विनिन्दित स्वर ने उन्हें मुग्ध कर लिया। आह ! इन सरल शब्दों में कितना वैराग्य, कितनी मादकता, कितनी तड़पन और कितनी सचाई भरी हुई है। अवश्य ही यह विधि के कुचक्र से सतायी हुई कोई महान् दुखिया है। हृदय में उसके प्रति सहानुभूति के पवित्र भाव जाग्रत् होने लगे, और उसकी इस विरक्ति का वास्तविक कारण जानने के लिए वह अत्यन्त अधीर हो उठे। उनसे अब बैठे न रहा गया। अंत में, उसके कष्टों को यथासाध्य दूर करने का दृढ़ संकल्प करके वह उसके पास जा पहुँचे और हार्दिक सहानुभूति के स्वर में बोले—"क्यों देवि ! इस अवस्था में तुम्हारी इस विरक्ति का क्या कारण है ? न-मालूम क्यों मेरा हृदय तुम्हारी कष्ट-कथा को सुनने के लिए क्षण-प्रति-क्षण व्याकुल होता जा रहा है। तुम्हारी हित-चिन्तना के सच्चे भावों से प्रेरित होकर ही मैं तुमसे उक्त प्रश्न करने की धृष्टता कर रहा हूँ और तुम्हें

विश्वास दिलाता हूँ कि मैं यथाशक्ति तुम्हारे कष्टों को दूर करने का पूरा प्रयत्न करूँगा। तुम निःसंकोच होकर मुझसे अपना हाल कहो।"

स्नेह का आग्रह अनिवार्य होता है। किशोर के बार-बार प्रश्न करने पर अंत में उस स्त्री के मुँह से अपने-आप निकल पड़ा—"क्या कहूँ बाबूजी! मेरी करुण-कहानी सुनकर आप क्या कीजिएगा? नहीं, उन बातों को अब आप रहने ही दीजिए।"

किशोर—नहीं, विना उसे सुने मुझे चैन न पड़ेगी। मुझे सुनाओ। यही मेरा एकांत अनुरोध है।

"क्या सुनाऊँ?"

किशोर—यही कि तुम इस अवस्था में क्यों और कैसे पहुँच गयीं, और किसके कारण तुम्हारी यह दशा हुई?

दुखिया का हृदय बहुत दिनों से भरा हुआ था, वह आज एकाएक उमड़ पड़ा। कंपित स्वर में वह बोली—"उन्हीं के कारण बाबूजी! जिनके चरणों पर मैं अपने-आपको चढ़ा चुकी हूँ।"

किशोर—क्या वह अभी जीवित हैं?

"हैं नहीं तो मैं जी किस तरह रही हूँ!"

किशोर—फिर यह तपस्या क्यों?

"यही उनकी इच्छा है, यही उनकी आज्ञा।"

किशोर—उफ् ! इतनी कठोरता ! मालूम होता है, उनके पास न हृदय है, और न मनुष्यता।

अब वह कुछ उत्तेजित हो उठी—"ईश्वर के लिए मेरे सामने उनका अपमान न कीजिए बाबूजी ! वह मेरे जीवन-सर्वस्व हैं, उपास्यदेव हैं, मैं उनके चरणों की धूल हूँ।"—यह कहते हुए उसने अपने गले की कंठी में लटकती हुई एक डिबिया की ओर बड़े ही स्नेह और श्रद्धा से निहारा और निर्निमेष दृष्टि से बड़ी देर तक उसे ताकती रही । यही उसकी एकमात्र निधि थी।

किशोर गद्गद हो गये, कितना उच्च हृदय है, और कितना भारी त्याग ! बोले—देवि ! क्षमा करो, अब ऐसी बात मुँह से न निकलेगी। पर यह क्या ! अरे, तुम तो इस डिबिया ...।

बात काटती हुई वह बोली—"बाबूजी ! यह कोई साधारण वस्तु नहीं है। यही मेरी एकमात्र सम्पत्ति है, इसी के सहारे मैं जी रही हूँ । यह मेरे 'सोहाग की डिबिया' है बाबूजी !"

किशोर कौतूहलवश उसे देखने के लिए आगे बढ़े, किंतु ज्यों ही उनकी दृष्टि डिबिया के ऊपर शीशे में जड़े हुए चित्र पर पड़ी, वह काँपते हुए हठात् कई पग पीछे हट गये और घायल हरिण की भाँति चकित होकर

इधर-उधर ताकने लगे। खोयी हुई स्मृति एकदम जाग पड़ी। हृदय विचित्र भावों से आंदोलित होकर पश्चात्ताप से भर गया। अचरजभरी दृष्टि से एक बार फिर उन्होंने सिर से पैर तक उसे देखा, अब उन्हें उसे पहचानते देर न लगी। एकाएक उनके मुँह से निकल पड़ा—च...म्पा......

आज मुद्दत के बाद उसे दुलार-भरे स्वर से अपना नाम सुनायी पड़ा था, आँखें श्रद्धा और प्रेम के आँसुओं से भर गयीं—"आह! कौन मेरे उपास्य देव किशोर!"—यह कहते हुए वह उनके चरणों पर गिर पड़ी।

किशोर ने उसे उठाते हुए कहा—"चम्पा, मैं इस सम्मान का पात्र कदापि नहीं। मैं तो स्वार्थ से भरा हुआ एक नारकी जीव हूँ। आह! मेरे कारण तुम्हारी यह दशा! देवि! तुम धन्य हो। मेरे अपराध किसी हद में यदि क्षमा-योग्य हों, तो........" कहते-कहते उनका गला रुँध गया। वह आगे कुछ न कह सके। सिर्फ़ एकटक नेत्रों से उत्तर की प्रतीक्षा में चम्पा के मुखमंडल को निहारते रहे। आह! उन आँखों में कितनी वेदना, कितना पश्चात्ताप भरा हुआ था।

"मेरे देव! इस प्रकार की बातें कहकर मुझे लज्जित न कीजिए"—यह कहते हुए चंपा ने अपनी आँखें ऊपर उठायीं। वे श्रद्धा तथा स्नेह के आँसुओं में डूबी हुई थीं।

इसी समय दोनों बच्चों ने किशोर से अपनी प्यारी तुतली बोली में कहा—"त्यों ताता, तुम लोते त्यों हो?"

किशोर ने प्यार से गोद में बिठाते हुए उनका मुँह चूम लिया।

यों तो मातृ-हृदय अगाध है ही, लेकिन विशेषतः शैशवावस्था एक ऐसी अवस्था है, जब कि वह अपनी प्यारी संतान के प्रति वर्षा-काल की उमड़ी हुई नदी की भाँति स्नेह से उमड़कर छलकने लगता है। और, यही वह अवस्था है, जब अबोध शिशु भी मातृ-स्नेह के उस स्वर्गीय सुख के लिए अत्यन्त लालायित रहता है।

उन भोलेभाले बच्चों को देखकर चम्पा के हृदय में वर्षों से संचित ममता का बाँध अचानक टूट पड़ा, और उससे करुणा की धारा बरस पड़ी। उसने उन्हें छाती से लगा लिया, और पहले की ही भाँति फिर चम्पा और किशोर दोनों जड़ और जीव के समान सदा के लिए एक हो गये।

सेवा-मार्ग

सेवा-मार्ग

(१)

"मुन्नी"

"हाँ अम्मा !"

"अरी ज़रा देख तो आ, बाबूजी बैठक ही में हैं न ?"

"अच्छा"—कहती हुई मुन्नी दौड़ती हुई बैठक की ओर चली गई ।

किंतु कुछ ही क्षण में लौटकर कुछ रोनी-सी सूरत बनाकर बोली—"अम्माजी, वह तो मोटर में बैठकर न-जाने कहाँ चले गए। अब मैं किसके......साथ......"

माता ने स्नेह-युक्त फटकार बताते हुए कुछ रुखाई के स्वर में कहा—दुर पगली, इतनी सयानी हो चली ; पर अब भी तुझे अक़्ल नाम को भी नहीं है । तुझ-जैसी सयानी लड़की का विना रोक-टोक मर्दों के साथ किसी सभा या महफ़िल में जाना क्या अच्छा लगता है ? तू तो इतनी उमर में भी अभी मैके ही के राग-रंग में दीवानी है, मैं तो तेरी अवस्था में ससुराल में तेरे पालन-पोषण का भार अपने सिर ले चुकी थी ।

मुन्नी माता के अंतिम वाक्य का तात्पर्य कुछ न समझ सकी। समझे भी क्योंकर ? उसे तो उस विषय में कुछ ज्ञान ही न था। विमाता ने भी तो इस संबंध में अब से पहले उससे कभी कुछ कहा ही न था, और न कभी कहना ही चाहती थीं। कारण, वह उसे अपने पेट ही से पैदा हुए बच्चे की भाँति प्यार करती एवं चाहती थीं। प्रसंग-वश इस वक़्त इतनी-सी बात उनके मुँह से निकल पड़ी थी।

सकुचाती हुई बोली—क्यों अम्मा, अपने बाबूजी के साथ तो बिंदो भी गई है। सभी लोग जाते हैं, फिर मैं......

माता ने उसी स्वर में कहा—बेटी, किसी अवगुण में दूसरों की देखा-देखी अपना हौसला बढ़ाना अच्छा नहीं। अब तू सयानी हुई, कल-परसों ससुराल जायगी, फिर क्या वहाँ भी इसी तरह की बातें किया करेगी !

ससुराल का नाम सुनते ही बालिका सहम गई। किसी अन्य आशंका से नहीं, केवल इसी भय से कि माता से छुड़ाकर लोग मुझे रोती हुई पालकी में उठा ले जायँगे। तब मैं कहाँ जाऊँगी, क्या करूँगी, तब पिताजी भी तो न होंगे, जिनके साथ सैर-तमाशे देखने जाऊँ। आदि-आदि।

काँपते हुए स्वर में बोली—ना——ना——अम्म——मा, मैं ससुराल कभी न जाऊँगी।

अम्मा ने क्रोध से डाँटते हुए कहा—चुप, जो अब की फिर कभी ऐसा कहा, तो मुँह भुलस दूँगी।

मुन्नी भय के मारे सन्न हो गई।

(२)

पं० कौशलकिशोर दुबे बनारस के प्रतिष्ठित व्यक्तियों में गिने जाते हैं। बाहर ज़मींदारी से ४-५ हज़ार रुपए मासिक की आय है। बनारस में आपका एक प्रेस भी है, जो इस वक्त काफ़ी प्रसिद्ध है। दुबेजी हिंदी-साहित्य के बड़े अनुरागी हैं। "कुमुद" नामक एक मासिक पत्र भी आपके प्रेस से निकलता है। आप ही उसके संपादक एवं अध्यक्ष भी हैं। उम्र क़रीब चालीस साल के ऊपर होगी, किंतु व्यायाम-प्रेमी होने से शरीर काफ़ी हृष्ट-पुष्ट एवं फुर्तीला जान पड़ता है। सिनेमा के आप बड़े शौक़ीन हैं। नौकर-चाकरों के अतिरिक्त आपके छोटे-से परिवार में केवल तीन ही प्राणी हैं—एक तो स्वयं, दूसरी पत्नी तथा तीसरी एकमात्र कन्या मुन्नी। मुन्नी आपकी बड़ी लाड़िली बिटिया है। उसे आप प्राणों से भी अधिक चाहते हैं। शायद इस कारण से कि वह आपकी पहली शादी की एवं अकेली संतान है।

प्रथम पत्नी मुन्नी को कुछ ही महीनों की अवस्था में,

आपकी गोद में छोड़कर चल बसी थीं। दुबेजी दूसरी शादी करने के पक्ष में न थे। एक तो अधिक अवस्था का विचार था तथा दूसरे नवजात शिशु का वात्सल्य-स्नेह उन्हें बरबस इस कार्य के लिये रोकता था। मुन्नी के प्रति विमाता के व्यवहार का ख़याल आते ही उनके प्राण संकट में पड़ जाते थे।

पर लोगों ने एक न मानी। बोले—दुबेजी, ईश्वर की कृपा से आपको किसी बात की भी कमी नहीं है। विना विवाह किए इतनी सारी गृहस्थी क्या चौपट करा-ओगे? तिस पर इतनी छोटी-सी बिटिया! इसका तो ख़याल कीजिए। इसके लालन-पालन के लिए तो किसी औरत का घर में होना निहायत ज़रूरी है। शादी कर लेने से इधर गृहस्थी भी सँभल जायगी और उधर बिटिया का पालन-पोषण भी, जैसा कि होना चाहिए, होता रहेगा। ईश्वर ने चाहा, तो थोड़े ही दिनों में फिर वही बात हो जायगी।

दुबेजी कहते—विमाता का हृदय सौतेली संतान के प्रति ममता-युक्त हो, यह कदापि संभव नहीं। बिटिया तो उसे फूटी आँखों भी न सुहाएगी। संभव है, उसके व्यव-हार के कारण मुझे भी मुन्नी के प्रति स्नेह से मुँह मोड़ लेने के लिए विवश होना पड़े। तब जान-बूझकर क्यों इस झंझट में पड़ूँ?

इस पर लोगों ने वह तर्क-वितर्क किया कि अंत में उन्हें अपने मित्रों की बात माननी ही पड़ी।

× × ×

किंतु अब दुबेजी के उस समय के तथा इस समय के विचारों में ज़मीन-आसमान का फ़र्क़ था। विमाता के गृह में आने से जिस अनिष्ट के होने की आशंका थी, वह धारणा केवल कल्पना-मात्र सिद्ध हुई। मुन्नी के प्रति कटु व्यवहार के बदले पत्नी का अपने से भी ज्यादा आभ्यंतरिक एवं अलौकिक वात्सल्य-स्नेह देखकर वास्तव में वह चकित हो गए। अब वह अपने समान भाग्य-शाली किसी को भी न समझते थे।

(३)

कई साल बाद—

पहले की भोली-भाली, अबोध बालिका मुन्नी अब एक षोड़शवर्षीया सुकुमारी के रूप में थी। उसके सुकोमल शरीर में यौवनांकुर उत्पन्न हो चुका था। यद्यपि अभी तक दुबेजी पत्नी के हठ को बराबर टालते ही चले आ रहे थे, तथापि इस साल मुन्नी के एंट्रेंस पास हो जाने पर अब वह भी स्वयं उसकी शादी शीघ्र कर देने के लिए अत्यंत उत्सुक हो उठे थे।

पर मुन्नी इस संबंध-चर्चा में किसी भाँति सहमत न थी। वह बी० ए० पास कर लेने के पहले वैवाहिक

बंधन में कदापि नहीं फँसना चाहती थी, पर लज्जावश अपनी इच्छा प्रकट भी नहीं कर पाती थी। किंतु जब देखा कि लज्जा की चादर ओढ़े हुए वह अपने मनोरथ-पूर्ति में बाधक हो रही है, तो इच्छा न रहते हुए भी एक दिन उसे लज्जारूपी उस चादर को अपनी देह से उतार फेंकने का निश्चय कर ही लेना पड़ा। अंत में एक दिन माता-पिता के सामने दीनता-भरे शब्दों में उसने अपना अभिप्राय प्रकट कर ही दिया।

दुबेजी अपनी इकलौती पुत्री की इस उचित अभिलाषा को न टाल सके। हर्ष के अश्रुओं से भरी हुई आँखों से, स्नेहपूर्ण दृष्टि से निहारकर बोले—अच्छा बेटी, जैसी तुम्हारी इच्छा।

(४)

संध्या के आठ बज चुके होंगे। एक सुसज्जित कमरे में एक स्वच्छ पलँग पर तकिए के सहारे लेटे हुए पं० कौशलकिशोरजी किसी समाचारपत्र के पन्ने उलट रहे थे। पास ही दूसरे कमरे में मुन्नी एक कुर्सी पर बैठी हुई टेबिल पर सिर झुकाए बड़ी तन्मयता से 'लीडर' पढ़ रही थी। हठात् दुबेजी ने पुकारा—"रामधन !"

"जी सरकार"—कहते हुए एक बूढ़े सेवक ने कमरे में प्रवेश किया।

"देखो, ज़रा बीबी से आज का 'लीडर' तो माँग लाओ।"

"बहुत अच्छा"--कहकर नौकर चला गया।

कुछ ही क्षण के बाद मुन्नी 'लीडर' हाथ में लेकर स्वयं उस कमरे में आ उपस्थित हुई और मुसकराती हुई बोली--"बाबूजी, मैं पास हो गई।"

दुबेजी ने हर्षोन्मत्त होकर उत्सुकता-भरे स्वर से पूछा--सच ?--किस डिवीज़न में ?

"फ़र्स्ट डिवीज़न में पिताजी।"

"देखूँ ?"

मुन्नी ने अख़बार हाथ में देकर रेड पेंसिल से मार्क किए हुए अपने नाम को दिखाते हुए कहा--यह देखिए।

दुबेजी कुछ देर तक आँखें फाड़-फाड़कर अख़बार देखते रहे। फिर स्नेह से गद्‌गद होकर अमृतमय वाणी में मुन्नी को पास बिठाते हुए बोले--बेटी, तुम-जैसी रत्न को ईश्वर ने कन्या-रूप में देकर मुझे अत्यंत भाग्यशाली बना दिया। ईश्वर ऐसा ही सौभाग्य सबको दे। तुम्हें पाकर अब मुझे कोई भी आकांक्षा बाक़ी न रही। पर हाँ, एक बात। यदि आज कहीं तुम्हारी दो माताओं में से एक भी इस दिन के लिए जीवित होतीं......

इतना कहते हुए उनके नेत्रों में आँसू छलछला आए। पुनः बोले--शादी की साध तो तुम्हारी अम्मा के मन

में ही रह गई, क्या मैं भी उसी तरह अपनी एकमात्र अंतिम साध को........बेटी, अब तो बात मान लो।

मुन्नी सिर नीचा किए पैर के अँगूठे से ज़मीन खुरचती हुई खड़ी रही।

(५)

जब से मुन्नी ने "कुमुद" के संपादन-कार्य में दुबेजी का हाथ बटाना आरंभ किया, तभी से उसकी ग्राहक-संख्या में दूनी वृद्धि हो गई। संपादकीय टिप्पणियों में अब वह नवीनता, जोश, मौलिकता एवं निर्भीकता होती कि लोग वाह-वाह करते। सर्व-साधारण की ज़बान पर "कुमुद" ही का नाम था। हिंदी-संसार में उसकी काफ़ी धूम मच गई। यहाँ तक कि जो पत्र पहले कई हज़ार रुपए सालाना के घाटे से चलता था, उसी में अब यथेष्ट आय दिखलाई देने लगी। सभी बातें वही थीं, पर अब प्रबंध दूसरा था। दुबेजी तो संपादन-कार्य के अतिरिक्त प्रबंध का कार्य कभी देखते ही न थे। उन्हें अन्य कार्यों से इतना अवकाश भी न मिलता था। सब कार्य बाहरी सहायकों के बल पर ही चलता था। पत्र के प्रकाशन का उद्देश्य कुछ व्यावसायिक तो था नहीं, साहित्य-सेवा की लगन होने पर ही, वह घाटे में भी बराबर पूर्ण उत्साह के साथ कार्यक्षेत्र में डटे हुए थे। पर मुन्नी ने कार्य-भार अपने हाथ में लेते ही ऐसे

सुचारु रूप से उसे चलाया कि लोग दाँतों-तले उँगली दबाते थे।

सुयोग्य पुत्री की कीर्ति एवं सहयोग से दुबेजी को साहित्य-क्षेत्र में वह सफलता मिली, जो बिरले ही को नसीब होती है। हृदय बाँसों ऊपर उछलने लगा। चारों ओर से बधाइयों का ताँता बँध गया। रोज़ाना डाक में दस-पाँच पत्र ऐसे अवश्य होते, जिनमें दिल खोलकर उनके पत्र के विचारों से पूर्णतः सहमत होते हुए, उनकी विद्वत्ता की अतीव प्रशंसा एवं पत्र के लिए शुभकामना प्रकट की गई होती थी। अन्य पत्र-पत्रिकाओं में ऐसी मार्मिक और प्रशंसापूर्ण आलोचनाएँ निकलतीं कि पढ़-कर हृदय फूल उठता था।

(६)

भादों के कृष्णपक्ष की भयावनी घनी अँधेरी रात्रि थी, चारों ओर घोर सन्नाटा छा रहा था। बाहर रिम-झिम-रिमझिम पानी की बूँदें पड़ रही थीं। बीच-बीच में बिजली भी अपनी चमक से कुछ क्षण के लिए उस अंध-कार को कुछ अंश में दूर करने का असफल प्रयास कर रही थी। सारी प्रकृति निद्रादेवी की गोद में पूर्ण विश्राम कर रही थी। हाँ, कभी-कभी गंगाजी के उस पार से सियारों का भयावना शब्द अवश्य सुनाई पड़ता था। ऐसे समय में मुन्शी अपने कमरे में एक स्वच्छ दुग्ध-फेन सदृश

शय्या में लेटी हुई, बिजली के प्रकाश में, श्रीप्रेमचंद-कृत 'निर्मला' पढ़ने में व्यस्त थी। बारह बज चुके होंगे, पर वह पुस्तक पढ़ने में इस प्रकार संलग्न थी कि जान पड़ता था, मानो समाप्त किए बिना न छोड़ेगी।

आख़िर पुस्तक समाप्त हुई, और अचानक उसके मुँह से निकल पड़ा—"आह !" अनमेल विवाह से भरी-पुरी गृहस्थी किस बुरी तरह चौपट हो जाती है, इसकी सारी तस्वीर उसकी आँखों के सामने प्रत्यक्ष नाचने लगी। 'निर्मला' के चरित्र की आलोचना करते हुए उसके रोंगटे खड़े हो गए। यहाँ तक कि वैवाहिक जीवन के प्रति अंत में उसके आंदोलित हृदय में अत्यंत घृणा पैदा हो गई।

उसने दृढ़ निश्चय कर लिया कि जीवन-पर्यंत गृहस्थी के पथ की ओर कदापि दृष्टि न फेरूँगी, और साहित्य-सेवा द्वारा समाज-सुधार एवं परोपकार में ही अपना जीवन बिता दूँगी।

वास्तव में जिस शांतिमय रूप से इस कार्य-क्षेत्र में वह अपना जीवन व्यतीत कर रही थी, उसकी उसे और किसी रूप में कल्पना तक न थी।

(७)

सायंकाल के छः बज रहे थे। एक सुविशाल भवन के दुमंज़िले पर एक चौड़े बरामदे में दो युवक कुर्सियों पर बैठे हुए आपस में बातें कर रहे थे।

सामने एक मेज़ पर कई हिंदी की पुस्तकें एवं पत्र-पत्रिकाएँ रक्खी हुई थीं, जिससे जान पड़ता था, दोनों पाश्चात्य शिक्षा-प्राप्त होने पर भी मातृभाषा हिंदी के अन्यतम पुजारी हैं। हठात् एक ने मुसकराते हुए कहा--भाई गोकुल, क्या मेरी एक बात मानोगे?

गोकुल ने कुछ उत्सुकता प्रकट करते हुए पूछा--क्यों भाई दिनेश, क्या बात है? कुछ कहोगे भी।

"कहने के पहले मैं यह जान लेना चाहता हूँ कि तुम उसे यों ही टाल न जाओगे--जैसी कि मुझे आशा है।"

"क्या मैंने तुम्हारी कोई बात कभी यों ही टाल भी दी है?"

"नहीं, कभी नहीं।"

"तो फिर क्यों नाहक भूमिका बाँध रहे हो?"

दिनेश मेज़ पर से एक मासिक पत्र उठाते हुए बोला--अच्छा भाई, लो सुनो--मैं चाहता हूँ कि तुम इस रमणी-रत्न को अपने सुकोमल कंठ का हार बनाओ। यह कहकर वह उस मासिक पत्र में प्रकाशित एक विज्ञापन की ये पंक्तियाँ पढ़ने लगा--

"आवश्यकता है, एक पच्चीसवर्षीय कुलीन कान्यकुब्ज वंशोत्पन्न वर की, जो संस्कृत, हिंदी, उर्दू आदि सभी

भाषाओं का अच्छा ज्ञाता हो। अँगरेज़ी में एम्० ए० होना आवश्यक है। हिंदी-साहित्य से प्रेम रखता हो, समय आने पर किसी उच्च कोटि के साहित्यिक पत्र का संपादन कर सकने की भी योग्यता रखता हो। कन्या ग्रेजुएट एवं सर्वगुणसंपन्न है। केवल योग्य सज्जन ही पत्र-व्यवहार करने का कष्ट करें। पत्र के साथ वर का फ़ोटो भेजना ज़रूरी है। पता--मार्फ़त 'कुमुद'-संपादक, काशी।"

गोकुल ने कहा--वाह भाई, तुम तो मुझे बनाने लगे।

"क्यों, इसमें बनाने की बात ही कौन-सी है ?"--दिनेश ने गोकुल के मुँह पर दृष्टि जमाते हुए पूछा।

"क्यों नहीं, मेरे ऐसे भाग्य ही कहाँ ! जानते हो, यह कौन हैं ?"

"नहीं, क्या सचमुच तुमने इन्हें कभी देखा है ?"

"हाँ, यह इन्हीं संपादकजी की सुपुत्री हैं।"

"ओह ! मुन्नी ?"

"हाँ, यह देखो, इसी अंक में इनकी एक कविता भी तो है।"

दिनेश कविता पढ़कर बोला--"वाह ! कमाल है। एक रमणी-हृदय से निकली हुई ये पंक्तियाँ वास्तव में

अनुपम हैं। ऐसी उत्कृष्ट रचनाएँ तो बहुत ही कम देखने में आती हैं।"

गोकुल ने दिनेश की तरफ़ प्रश्न-सूचक दृष्टि से ताकते हुए कहा--"पर सुना है, यह तो विवाह करने के पक्ष में नहीं हैं।"

"बात तो यही है। संभव है--यह कोई दूसरी हों। खैर जो भी हों, सर्वथा तुम्हारे योग्य हैं। तुम्हें अवश्य इनके लिये प्रयत्न करना चाहिए।"

गोकुल बोला--अच्छी बात है। चलो, ज़रा सामने पार्क की ठंडी हवा में एकांत में इस विषय पर कुछ विचार कर लें।

और, दोनों मित्र उठकर घूमने निकल गए।

(८)

"कुमुद" में जबसे उपर्युक्त आशय का विवाह-विज्ञापन प्रकाशित हुआ, उसके दूसरे-तीसरे दिन से ही दुबेजी के पास इस संबंध में अनेकों पत्र आने लगे। पत्र-प्रेषकों में सभी व्यक्ति बड़े प्रतिष्ठित एवं कुलीन थे। दुबेजी ने सोचा, अब मुन्नी के सामने इस प्रस्ताव को पेश कर देना ही उचित होगा। वह एक आदर्श समाज-सुधारक भी थे। अतएव विना मुन्नी की इच्छा के इस संबंध को कहीं तय कर लेना कदापि नहीं चाहते थे। अभी तक

यह चर्चा उन्होंने मुन्नी से ज़रा भी प्रकट नहीं की थी। पत्र में विज्ञापन देने की बात भी मुन्नी को बिलकुल ज्ञात न थी। पत्र छपते समय दुबेजी ने उक्त विज्ञापन उसमें जोड़ दिया था। यदि ऐसा न किया गया होता, तो संभव था, मुन्नी इसका पहले ही विरोध करती।

दुबेजी दफ़्तर में बैठे हुए संपादकीय डाक देख रहे थे, सहसा पोस्टमैन ने एक रजिस्ट्री पैकेट उनके हाथ में दिया। रसीद पर दस्तख़त करके उन्होंने पोस्टमैन को बिदा किया, और पैकेट को ध्यान से देखने लगे। उस पर बनारस की ही मुहर थी। उन्होंने उत्सुकतापूर्वक पैकेट खोला। प्रेषक सज्जन गोकुल ही थे। पत्र में उसी विज्ञापन का हवाला देते हुए बड़े विनम्र शब्दों में उस कन्या से विवाह करने की इच्छा प्रकट की गई थी।

पत्र पढ़कर उनका हृदय एक अनिर्वचनीय आनंद से पुलकित हो उठा। गोकुल तो शहर के ही प्रतिष्ठित वकील निर्मलचंद्रजी का सुपुत्र है। उनकी विशाल संपत्ति का एकमात्र अधिकारी वही है। शिक्षित तथा सच्चरित्र युवक है। यह संबंध हो जाय, तो बड़ा ही उत्तम हो। मुन्नी भी—जैसी कि मेरी परम लालसा है—अपनी आँखों की ओट न होगी। कुछ देर तक वह इसी प्रकार की सुखद कल्पनाएँ करते रहे। अंत में यही निश्चय किया कि सबमें गोकुल ही मुन्नी के लिये उपयुक्त वर होगा।

(६)

वैशाख का महीना था और दोपहर का समय। कड़ी धूप पड़ रही थी। दुबेजी खस की टट्टियों से घिरे एक कमरे में बैठे हुए कुछ लिख रहे थे। ऊपर छत पर लगा हुआ बिजली का पंखा अपनी पूरी रफ़्तार से चल रहा था, जिसकी शीतल वायु से बीच-बीच में उन्हें कुछ झप-कियाँ-सी आ जाती थीं। इतने में मुन्नी कुछ ज़रूरी काग़ज़ों पर दस्तख़त कराने के लिये उनके कमरे में आई। जब वह चलने लगी, तो दुबेजी ने कहा—बेटी, ज़रा बैठो, मुझे तुमसे कुछ कहना है।

मुन्नी ने दरवाज़े से लौटते हुए पूछा—क्या आज्ञा है?

दुबेजी ने मेज़ की ड्रार में से पत्रों का एक बंडल निकाला, और उसे मुन्नी को देते हुए कहा—देखो, यह बड़ी ज़रूरी चिट्ठियाँ हैं, इन्हें पढ़कर, अच्छी तरह सोच-विचार करके, अपनी सम्मति के साथ जल्दी मुझे लौटा देना। मैंने सभी पत्रों पर अपनी राय नोट कर दी है, उसे भी देख लेना। और लो, ये पत्र-संबंधी कुछ चित्र भी हैं, इन्हें भी लेती जाओ।

मुन्नी लेकर चली गई।

अपने कमरे में पहुँचते ही मुन्नी ने तुरंत पत्रों का बंडल खोल डाला और उत्सुकतापूर्वक उन्हें पढ़ने लगी। सभी प॰ों का आशय एक ही था। एकाएक पहले वह कुछ न

समझ सकी कि इनसे उसका क्या संबंध है! पर थोड़ी ही देर बाद "कुमुद" की एक प्रति उठाकर देखने तथा पत्रों पर लिखी हुई बाबूजी की सम्मतियों को पढ़ने से वह शीघ्र ही सब कुछ समझ गई। आह! इस सारे अभिनय की रचना मेरे ही कारण हुई है। मैं ही इसकी अभिनेत्री हूँ। जिस बंधन से मैं मुक्त रहना चाहती हूँ, उसी में मुझे जकड़ने के लिये बार-बार कोशिश की जा रही है। सेवा तथा उपकार की जो लगन इस समय मेरे बंधन-मुक्त हृदय में लगी हुई है, क्या वह उस विपरीत दशा में भी स्थायी रह सकती है! नहीं, कदापि नहीं। केवल अपने ही स्वार्थ के लिये क्या अपनी इन शुभाभिलाषाओं का दमन कर देना उचित है? नहीं, ऐसा कभी नहीं हो सकता। मैं जो प्रतिज्ञा एक बार कर चुकी हूँ, उसकी पूर्ति के लिये अपने सभी सुखों एवं प्रलोभनों को ठुकरा दूँगी। बाबूजी भले हो नाराज़ हो जायँ, पर मैं अपने निश्चय को नहीं टाल सकती। इसी प्रकार की अनेक बातें वह बड़ी देर तक सोचती रही। वह कुछ निश्चय न कर सकी कि इस विषय में बाबूजी को क्या जवाब दे। सहसा उसे ख़याल आया कि इन पत्रों को ही क्यों न फाड़ डालूँ? "न रहेगा बाँस, न बजेगी बाँसुरी"—यह सोचकर उसने सभी चिट्ठियाँ फाड़-फाड़कर पुर्जे-पुर्जे कर डालीं।

× × ×

उसी दिन शाम को नौकर की मार्फ़त दुबेजी को एक पत्र मिला। पत्र मुन्नी का था। लिखा था—

"पूज्य बाबूजी, सादर प्रणाम।

आज दिन में जो पत्र आपने मुझे देकर आज्ञा प्रदान की थी कि उनके संबंध में मैं अपना उचित वक्तव्य लिखकर उन्हें शीघ्र आपकी सेवा में लौटा दूँ, उसी संबंध में मैं यह प्रार्थनापत्र सेवार्पण कर रही हूँ। मेरे लिये यह परम सौभाग्य का विषय होता, यदि इस संबंध में मैं आपकी आज्ञा को टालने का अपराध न कर उस पातक से बचती, जो बाध्य होकर मुझे करना पड़ा है। किंतु, जब देखती हूँ कि मैं अपने जिस भविष्य-पथ को निर्धारित कर चुकी हूँ, उस पर अग्रसर होने के लिये इसके सिवा अन्य कोई मार्ग ही नहीं, तो मुझे कुछ संतोष होता है। मैं आजीवन अविवाहिता रहकर साहित्य-सेवा, समाज-सुधार तथा स्त्री-शिक्षा-प्रचार एवं अनाथ-सेवा आदि लोकोपकारी कार्यों में ही अपना जीवन बिताने का दृढ़ निश्चय कर चुकी हूँ। ईश्वर मुझे अपने इस संकल्प को पूरा करने का बल दे। विवाह-बंधन स्वीकार करने से मैं अपने इस निश्चय को किसी अंश में भी कार्यरूप में परिणत कर सकूँगी, यह कदापि संभव नहीं। यही सोचकर मैंने उन सब पत्रों को भी फाड़ फेंका है। अतएव प्रार्थना करती हूँ कि आप मुझे इसके लिये

अवश्य क्षमा की भिक्षा प्रदान करेंगे और आशीर्वाद देंगे कि आपकी पुत्री सफल-मनोरथ हो।

चरणसेविका—

मुन्नी"

× × ×

पत्र पढ़कर दुबेजी की आँखों के सामने अँधेरा-सा छा गया। उनके काँपते हुए हाथों से पत्र नीचे गिर पड़ा।
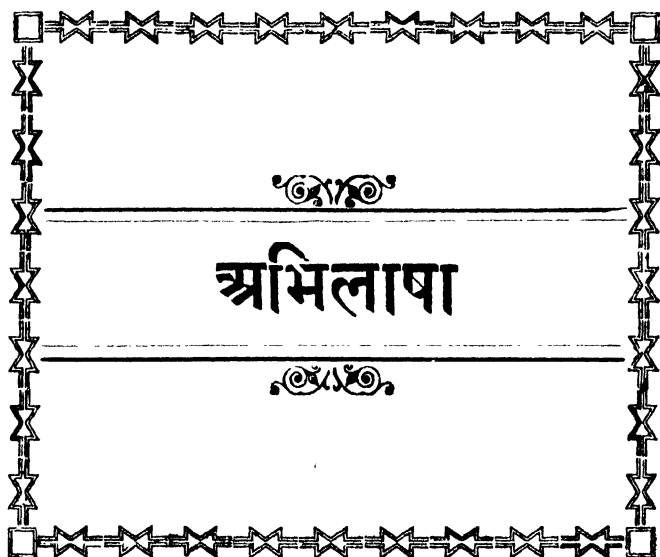
अभिलाषा

अभिलाषा

(१)

पं० मुरलीमनोहर दफ़्तर से आकर अपने कमरे में बैठे हुए हुक्का पी रहे थे कि सहसा नौकर ने आकर पं० मोहनलालजी के आने की ख़बर दी। पंडितजी झिझकते हुए बोले—"जाकर कह दो, उनके सिर में दर्द है, कृपया कल किसी वक़्त मिलने का कष्ट करें।" नौकर "बहुत अच्छा" कहकर बाहर चला गया। नौकर के चले जाने के बाद पं० मुरलीमनोहर मन-ही-मन बड़बड़ाने लगे कि क्या करें, ज़माना ही ऐसा है कि बग़ैर झूठ बोले काम ही नहीं चलता। हर समय इसी तरह किसी के पीछे पड़े रहना भी कोई अच्छी बात है! इतने ही में उनकी धर्मपत्नीजी ने कमरे में प्रवेश किया, और चिंतायुक्त स्वर में बोलीं—क्या तबियत कुछ ख़राब है?

मुरली०—नहीं तो। क्यों, आज चा-वा कुछ न बनेगी?

"चा तो बनी रक्खी है। बिंद्रा (नौकर) से मालूम हुआ कि आपकी तबियत ठीक नहीं है। इसी से चली आई हूँ।"

मुरली०—अरे नहीं, वह भी कितना गँवार है, जो इतनी-सी बात तुमसे कहने चला। ऐसा तो मैंने कहीं नहीं कहा कि तबियत ख़राब है। हाँ, यह ज़रूर कहा था कि पं० मोहनलालजी से कह दे, इस वक़्त सिर में कुछ दर्द है, कल मिलें।

"तो क्या, आपने जानकी के विवाह के लिये अभी कहीं निश्चय नहीं किया?"

मुरली०—कह तो रहा हूँ कि मोहनलालजी को कल बुलाया है। उन्हीं के छोटे भाई हैं, पढ़े-लिखे हैं, अच्छा ख़ानदान है। ज़मींदारी भी अच्छी ही है, अच्छा घर है; किंतु........

धर्मपत्नीजी ने बीच ही में बात काटकर पूछा—लड़के की उम्र कितनी है, और किस दर्जे में पढ़ता है?

मुरलीमनोहरजी दुःखभरी आवाज़ से बोले—क्या कहूँ, यही तो एक विकट समस्या बीच में आ पड़ी है कि उनकी उम्र ४० साल से कुछ ऊपर है। दो शादियाँ हो चुकी हैं। पहली शादी से एक लड़का भी है, पर......।

उनका यह कहना था कि पत्नी को ऐसा मालूम हुआ, मानो बिच्छू ने डंक मारा हो। उन्होंने फिर बात काटते हुए कहा—चूल्हे में जाय ऐसा ख़ानदान और भाड़ में जाय ऐसा घर और वर! ऐसे घर में लड़की देने से तो मैं अपनी प्यारी जानकी को कुँआरी ही रख

छोड़ूँगी। अपनी प्राणों से प्यारी, आँखों की पुतली, सर्वगुण-संपन्न लड़की को ऐसे आदमी के हाथ सदा के लिये सौंपना इन आँखों के सामने तो न हो सकेगा। हाँ, मेरे मर जाने के बाद भले ही हो जाय।

स्त्री के मुँह से ये रोष से भरे हुए शब्द सुनकर पं० मुरलीमनोहरजी का हृदय भर आया। पर करें क्या? कोई और उपाय भी तो नज़र नहीं आता। इतनी बड़ी हैसियत भी तो नहीं कि ४-५ हज़ार रुपए दहेज़ में देकर किसी योग्य वर के साथ लड़की का विवाह करें। दफ़्तर में एक साधारण पद पर ६०) मासिक वेतन पाते हैं। औरत, लड़की, नौकर और आप, चार आदमियों का ख़र्च! उस पर लखनऊ-शहर में रहना। बेचारे किसी तरह गुज़र करते थे। पर उनकी धर्मपत्नी श्रीमती कमलादेवी बड़ी सुशील, सुचतुर, गृह-कार्य में निपुण एवं परम पतिव्रता महिला थीं। उन्हीं की उचित शिक्षा का फल था कि जानकी में भी ये सब गुण पूर्णरूप से विद्यमान थे। वह हिंदी-मिडिल सम्मान के साथ पास कर चुकी थी, और उसकी आंतरिक इच्छा थी कि आगे अँगरेज़ी की शिक्षा प्राप्त करे। किंतु पिताजी के विशेष धन-संपन्न न होने एवं और किसी कारण से उसकी उक्त अभिलाषा पूरी न हुई। इसके अतिरिक्त एक और भी दूसरी बात उसकी इस इच्छा-पूर्ति में विशेष

रूप से बाधक थी। वह यह कि अब जानकी बाल्यावस्था को पार कर चुकी थी। पिछले महीने से उसने १४ वाँ साल पूरा करके १५ वें साल में पदार्पण किया था। तब यदि यह कहा जाय कि जानकी बाल्यावस्था को पार करती हुई यौवन-रूपी पहली सीढ़ी में पैर रख चुकी थी, तो कोई अत्युक्ति नहीं।

पं० मुरलीमनोहरजी के पूर्वज बड़े ही कट्टर सनातन-धर्मी एवं पुरानी लकीरों को पीटनेवाले लोगों में से थे। उनके ख़ानदान में लड़की को १० साल की अवस्था में अविवाहित रखना घोर पाप समझा जाता था। यद्यपि मुरलीमनोहरजी इस बीसवीं सदी के युग में अपने पूर्वजों की इस नीति को पूर्णतः निभाने की चेष्टा नहीं करते थे, तथापि उसके प्रति वह सर्वतोभावेन विमुख भी न थे, बल्कि यथाशक्ति उसे निभा लेने की इच्छा रखते थे। उनकी पत्नी पढ़ी-लिखी थीं। उनकी यह आंतरिक इच्छा थी कि लड़की कम-से-कम हिंदी-मिडिल तक की शिक्षा अवश्य प्राप्त करे। ईश्वर की कृपा से उनकी यह इच्छा पूर्ण हुई। अब लड़की व्याहने योग्य हो गई थी। अतएव उन्होंने अब लड़की को स्कूल भेजना उचित न समझ, उसे स्वयं घर पर ही गृह-कार्य की शिक्षा देना ज्यादा उचित समझा। फलतः मा की आज्ञा के अनुसार जानकी को भी अपना विचार बदल देना पड़ा। जी-

जान से मा-बाप की सेवा में लगे रहना एवं घर के काम-काज में मा का पूरा-पूरा हाथ बटाना ही उसने अपना कर्तव्य समझ लिया।

कमलादेवी पति की आमदनी से बड़ी खूबी के साथ गृह-कार्य चलातीं और आय का कुछ न कुछ हिस्सा लड़की के विवाह के लिये हर महीने अवश्य ही बचा लेती थीं। उनके और कोई संतान न थी, केवल जानकी ही उनकी इकलौती बेटी थी। मुरलीमनोहर भी लड़की को कुछ कम प्यार न करते थे। अकेली होने के कारण वह मा-बाप दोनों की आँखों की तारा थी। लड़की के लिये अच्छा-से-अच्छा घर-वर ढूँढने में मुरलीमनोहरजी ने कोई भी कोर-कसर नहीं रख छोड़ी थी; पर लक्ष्मीपात्र न होने के कारण उन्हें इसमें कोई सफलता नहीं मिली। जहाँ देखो, पहले दहेज़ ही का सवाल उठता था। बेचारे बड़े चिंतित थे। समाज में सिर नीचा करना पड़ रहा था। १५ साल की लड़की को अविवाहित रूप में आँखों से देखते हुए उनकी आँखें ज्योतिहीन-सी होती जाती थीं। बंधु-बांधवों की ताने-बाज़ी एवं अशिष्ट व्यवहार रह-रहकर उनकी आत्मा को झुलसा देता था। शायद पत्नी के इस हठ से कि लड़की अच्छे घर में किसी पढ़े-लिखे होनहार, योग्य लड़के के साथ में ब्याही जाय, जहाँ वह सुख-पूर्वक रह सके, अभी तक वह उसकी शादी कहीं तय नहीं कर पाए थे।

पत्नी के उपर्युक्त वाक्य सुनकर वह बड़े असमंजस में पड़ गए, और किंकर्तव्य-विमूढ़ होकर जी कड़ा करके बोले—"क्या मैं नहीं चाहता कि लड़की योग्य वर के साथ ही ब्याही जाय, और सुख-पूर्वक रहे ? मुझे तो पं० मोहनलालजी के भाई मदनलाल के सिवा और कोई नज़र नहीं आता। ४० साल की उम्र कौन बहुत बड़ी उम्र है ? हाँ, कुछ अधिक ज़रूर है। पर और कोई उपाय भी तो नहीं। न अधिक सोच-विचार करने का अवसर ही है। लड़की बहुत सयानी हो गई है। समाज में मुँह दिखाते हुए लजाता हूँ। बंधु-बांधवों में ऐसा कोई नहीं, जो समय पर साथ दे। जिसे देखो, वही नीचा दिखाने की कोशिश करता है। यह सब सोचकर ही मैंने पं० मोहनलालजी को कल निश्चय कर लेने के लिये बुलाया है। दफ़्तर भी कल नहीं जाना है, अतएव कल इसे निश्चय कर ही लेना होगा। अब अधिक विलंब सह्य नहीं।"

कमला की आँखें डबडबा आई थीं। उन्होंने दुख-भरे शब्दों में कहा—समाजवालों का हँसी उड़ाने का तो यह मौक़ा ही है। सुनती हूँ, मुहल्ले की औरतें कहा करती हैं—"छिः! इतनी सयानी लड़की भी पिता के घर में बिना ब्याहे कहीं सुहाती है! मा और बेटी में ज़रा भी फ़र्क़ नहीं है।"—क्या करूँ, कुछ भी नहीं समझ पाती। न-जाने जानकी के भाग्य में क्या बदा है !

इतने ही में जानकी एक तश्तरी में कुछ खाद्य पदार्थ और एक गिलास में चा लेकर कमरे में आई, और उसे पिताजी के सामने रखकर बाहर चली गई। उसे देखकर एक अपूर्व स्नेह के आवेश में मुरलीमनोहरजी की आँखों से प्रेमाश्रु टपक पड़े।

(२)

पत्नी के चले जाने के बाद मुरलीमनोहरजी ने खूँटी से कोट उतारा, और पहनकर जी बहलाने के लिये बाहर घूमने निकल गए। टहलते-टहलते बनारसी-बाग़ में जा पहुँचे। छः बज रहे थे। आकाश में लालिमा छाई हुई थी। बादलों का लाल, पीला, बैजंती तथा नारंगी-रंग उसकी और भी शोभा बढ़ाए हुए था। बाग़ के विविध रंगों के पुष्पों की अपूर्व शोभा मन को मोहित किए लेती थी। आम, खजूर तथा ताड़ इत्यादि अनेक पेड़ों पर चढ़े हुए विशेषतः अजायबघर के तमाम तरह-तरह के रंगबिरंगे पक्षियों की सुमधुर चहचहाहट से जो रसीली ध्वनि निकलती थी, वह क्या ही प्यारी मालूम देती थी!

पंडितजी पक्षियों और पशुओं की बहार देखते हुए एक बेंच पर जा बैठे। उनकी बेंच के पास ही एक दूसरी बेंच पर दो और आदमी बैठे हुए थे। पर पं०

मुरलीमनोहर अपने विचारों में इतने मग्न थे कि उन्होंने उनकी ओर ध्यान तक न दिया।

सहसा उनमें से एक महाशय ने मुरलीमनोहरजी से कहा—"आप खूब मिले !"

मुरलीमनोहर चौंककर बोले—ओहो ! आप हैं, पं० चंदनप्रसाद। क्षमा कीजिए, पीछे की तरफ़ बैठे होने से आपको नहीं देख पाया। कहिए, सब कुशल तो है ? आज कई दिनों के बाद दिखलाई पड़े।

चंदन०—सब आपकी कृपा है। इस बीच कुछ काम से बाहर गया हुआ था, कल ही लौटा हूँ।

मुरली०—(दूसरे महाशय की तरफ़ इशारा करते हुए) आप की तारीफ़ ?

चंदन०—आप हमारे मित्र हैं, आगरे के एक कालेज में अँगरेज़ी के प्रोफ़ेसर हैं। आपका नाम है—पं० रघुनंदनप्रसाद एम्० ए०। इधर थोड़े दिनों से आपकी तबियत कुछ ख़राब थी। आगरे के प्रसिद्ध डाक्टर डी० एन्० पांडे का इलाज कराने आप यहाँ आए थे। आज कल आप छुट्टी पर हैं।

डा० डी० एन् पांडे का नाम सुनते ही पं० मुरली-मनोहरजी ने आश्चर्य-पूर्वक प्रश्न किया—"वह तो आगरे में हैं, और आप यहाँ........."

चंदनप्रसाद बीच ही में बोल उठे—"डाक्टर पांडे

आगरे से बदलकर लखनऊ के सिविल-सर्जन नियुक्त हुए हैं, अतएव उनके यहाँ चले आने से ही आप भी यहाँ तशरीफ़ लाए हुए हैं।

यह खुशखबरी सुनकर उनका हृदय उछल पड़ा। वह डाक्टर साहब को खूब अच्छी तरह जानते थे, और उनके कुछ दूर के संबंधी भी होते थे। जब वह भी पहले आगरे में नौकर थे, तो अपने परिवार के साथ डाक्टर साहब के ही पड़ोस में रहा करते थे। दोनों कुटुंबों में बड़ा हेल-मेल हो गया था। इन्हीं सब कारणों से डाक्टर साहब भी उन पर विशेष श्रद्धा रखते थे।

डाक्टर पांडे बड़े ही सज्जन तथा प
थे। वह उन लोगों में से थे, जो अत
हुए भी प्राणि-मात्र को आदर व
निस्वार्थ-भाव से अपना सब कु
छावर कर देने में ज़रा भी नहीं
था कि उनकी शहर में बड़ी
मुरलीमनोहर प्रो

पं० चंदनप्रसाद अपने बाएँ हाथ की कलाई पर बँधी हुई सोने की घड़ी को देखते हुए बोले—"उफ़्फ़ोह ! ६ बजना चाहता है, चलना चाहिए।" यह कहते हुए वह उठ खड़े हुए। "अच्छी बात है, चलिए" कहकर अन्य दो सज्जन भी उठ पड़े, और चल दिए।

सामने सड़क पर पं० चंदनप्रसादजी की फ़िटन खड़ी थी; तीनों आदमी उस पर बैठ गए। कोचवान ने पूछा—"पंडितजी, कौन-सी सड़क होकर चलूँ ?"

पंडितजी ने उस रोड होकर चलने का हुक्म दिया, जिस पर क़रीब ही में पं० मुरलीमनोहर रहते थे।

...ार फ़िटन उधर चल पड़ी और थोड़ी ही ...कान के पास पहुँच गई। पं० मुरली-...र बोले—"क्षमा कीजिएगा, मेरी ...। कुछ तकलीफ़ हुई।"

... की कौन-सी बात है"—कहकर

...३)

...मे निवृत्त होकर एक

बाहर फाटक पर एक छोटा-सा साइनबोर्ड लगा था, जिस पर अँगरेज़ी में 'डा० डी० एन्० पांडे सिविलसर्जन' लिखा हुआ था। किराया देकर उन्होंने ताँगेवाले को विदा किया, और डाक्टर साहब के कमरे में दाख़िल हुए। उन्हें देखते ही डाक्टर साहब उठ खड़े हुए और बड़े ही आदर से उन्हें अपने पास ही एक दूसरी कुर्सी पर बिठाया, नौकर से चिलम भर लाने को कहकर डाक्टर साहब बोले—"कहिए, सब कुशल तो है?"

"जी हाँ, सब आपकी कृपा है। बहुत दिनों के बाद आज दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त हुआ।"

"आप दुबले-से नज़र आ रहे हैं, क्या तबियत कुछ ख़राब है?"

डाक्टर साहब के इस प्रश्न को सुनकर पं० मुरली-मनोहर कुछ सहम-से गए। वह भला इसका क्या उत्तर देते! उनके जी में तो आया कि उत्तर में कारण बतलाते हुए डाक्टर साहब से अपने घर-गृहस्थी की चिंताओं (जिनमें लड़की की शादी के लिये योग्य वर न मिलने की चिंता ही मुख्य थी) का ज़िक्र छेड़ दें। पर न-मालूम क्या सोचकर वह ऐसा न कर सके, और उत्तर में उन्होंने कह दिया—"जी नहीं, ऐसी तो कोई ख़ास शिकायत नहीं है। पर......" इतना कहकर वह रुक

गए। यथार्थ बात उन्होंने इस ढंग से कही थी कि डाक्टर साहब को उनकी वास्तविक स्थिति का कुछ-न-कुछ आभास मिल जाय। हुआ भी वही। ऐसे योग्य डाक्टर के लिये किसी की हृदय-स्थिति का हाल जान लेना कौन-सी बड़ी बात थी? उनकी मुखाकृति को देखकर ही वह ताड़ गए कि अवश्य ही इनके हृदय में कोई-न-कोई भयंकर चिंता वर्तमान है। वह सोचने लगे, पर वह बात है क्या? दो साल पहले जब यह आगरे में थे, तब तो इन्हें ऐसी कोई भी चिंता न थी, जिससे बग़ैर किसी बीमारी के यह इस प्रकार घुलते हुए दिखलाई पड़ें। सरकारी नौकरी करते हैं, कोई इतना बड़ा परिवार भी नहीं कि उसका खर्च भी न चल सके। गिने-गिनाए तीन-चार आदमी हैं ही। तिस पर तनख़्वाह भी अब कुछ बढ़ ही गई होगी। तब क्या कारण है, जो यह इस प्रकार चिंतित दिखलाई देते हैं! क्या कहीं नौकरी तो गड़बड़ नहीं हो गई? इसी प्रकार कुछ देर तक डाक्टर साहब अनेक प्रकार की बातें सोचते रहे। आख़िर में उन्होंने हुक़्क़े की नली को पं० मुरलीमनोहरजी की तरफ़ बढ़ाते हुए शंका-समाधान करने की ग़रज़ से पूछा—
"दफ़्तर तो आज बंद होगा न?"

"जी हाँ।" पं० मुरलीमनोहरजी ने तंबाकू पीते हुए कहा।

अब डाक्टर साहब को उनकी वास्तविक चिंता जानने की उत्सुकता हुई। उन्होंने स्नेह-युक्त नेत्रों से पं० मुरली-मनोहर की तरफ़ देखते हुए कहा—"आप कुछ चिंतित-से जान पड़ते हैं। यदि यह सच है, तो इस विषय में मेरे योग्य जो कुछ सेवा हो, उसे निस्संकोच-भाव से कहिए। अगर मैं आपकी कुछ सहायता कर सका, तो अपने को धन्य मानूँगा।"

मुरलीमनोहरजी ने डाक्टर साहब की तरफ़ कृतज्ञता-पूर्ण दृष्टि से देखा, और कुछ दबी हुई ज़बान से बोले—"यह सब आपका अनुग्रह है। अवश्य ही इस समय मैं एक बहुत बड़ी ज़िम्मेदारी के भार से लदा हुआ होने के कारण कुछ ही नहीं, बल्कि विशेष चिंतित हूँ। और इस संबंध में आपसे कोई 'सेवा' नहीं, बल्कि उससे भी कहीं अधिक मूल्य की सम्मति की आशा करता हूँ। आशा है, आप उचित परामर्श देकर अनुगृहीत करेंगे।"

डाक्टर साहब बोले—"यद्यपि मैं अपने को इस योग्य ज़रा भी नहीं समझता, तथापि आपकी आज्ञा का उल्लंघन करना भी मेरे लिये उचित न होगा। कहिए, क्या आज्ञा है?"

मुरलीमनोहरजी के निराश हृदय में बहुत कुछ आशा का संचार हो आया। अत्यंत कृतज्ञतापूर्ण नेत्रों से डाक्टर साहब की तरफ़ देखते हुए, उन्होंने लड़की की शादी की बाबत तमाम कठिनाइयाँ, जो कुछ उनके सामने थीं, बयान

कीं। सहृदय डाक्टर साहब उनकी दुःख-भरी गाथाओं को एकाग्रचित्त होकर इस प्रकार सुन रहे थे, मानो कोई रोगी अपना हाल बता रहा हो। उनका मोम-सरीखा कोमल हृदय उनकी बातों को सुनकर पिघल-पिघलकर पानी-पानी हो गया। मुरलीमनोहर जब सब कुछ कह चुके, तो डाक्टर साहब ने एक दीर्घ निःश्वास ली; और बोले— आप चिंता को छोड़िए। समय चिंतित होने का नहीं, वरन् और भी दृढ़ता से अपनी इच्छानुकूल कार्य करने की प्रतिज्ञा निभाने का है। समाज के भय से अपनी इच्छा के प्रतिकूल ही जल्दी में ऐसा कार्य कर बैठना, जिसका परिणाम अच्छा होने की संभावना न हो, नितांत अनुचित है। मैं कदापि इससे सहमत नहीं। मुझे वास्तविक खेद है कि मैं आप-जैसे मित्र के साथ इस नए संबंध को करके अपने को गौरवान्वित न कर सका। यदि हरीश (डा० साहब का लड़का) की शादी न हो गई होती, तो मैं अवश्य ही सहर्ष आपसे यह संबंध स्वीकार कर अपने को धन्य मानता। फिर भी मैं सच्चे दिल से आपके साथ हूँ। मेरे योग्य जो कुछ कार्य आपको जान पड़े, उसे आप खुले-दिल से कहिए। मैं तो यही कहूँगा कि पं० मोहनलालजी को आप साफ़ जवाब दे दें। आप यह निश्चय समझिए कि जिस कार्य के करने में अपने दिल में ज़रा-भर भी उत्साह न हो, और किसी

भय अथवा ज़बर्दस्ती से वह किया जाय, तो उसमें सफलता की कोई आशा रखना वैसी ही बेवकूफ़ी है, जैसे जलती हुई आग के अंगारों पर जान-बूझकर हाथ रखकर यह आशा करना कि आँच न लगेगी !

मुरलीमनोहरजी डाक्टर साहब की असीम कृपा पर मन-ही-मन बहुत खुश हुए। उन्होंने उत्साह-भरे शब्दों में कहा—जीहाँ, आपका कहना अक्षरशः सत्य है।

थोड़ी देर बाद वह फिर बोले—आपने मेरा बहुत मान किया—इसके लिये मैं आपका अत्यंत आभारी हूँ। पर मैं तो किसी हालत में भी............।

डाक्टर साहब बीच ही में बोल उठे—यह आप क्या कह रहे हैं ? आप जानते हैं, मैं उन लोगों में नहीं, जो लक्ष्मी-जैसी चलायमान वस्तु के चंगुल में फँसकर आपे-से बाहर हो जाते हैं, यहाँ तक कि जाति-पाँति को भी तिलांजलि दे बैठते हैं ! धन-वैभव में भले ही आप सर्व-संपन्न न हों, पर इससे क्या ? यह तो एक मामूली-सी बात है। हमारे लिये तो सभी दृष्टियों से आप आदर के पात्र हैं, और रहेंगे। लड़की जैसी आपकी है, वैसी हमारी भी। अस्तु, चिंता की कोई बात नहीं। ईश्वर ने चाहा, तो सब अच्छा ही होगा। मैं आज ही इस विषय में दो-एक जगह ज़िक्र करूँगा, सफलता ईश्वर के हाथ है।

यह कहते हुए उन्होंने सामने लगी हुई मेज़ की घंटी

बजाई। तुरंत नौकर आ उपस्थित हुआ। उससे उन्होंने चा लाने को कहा।

(४)

मुरलीमनोहरजी के चले जाने के बाद डाक्टर साहब ने सामने लगी हुई मेज़ की बहुत-सी अँगरेज़ी किताबों में से एक किताब उठाई, और उसे देखने लगे। सहसा बाहर मोटर का हार्न सुनाई दिया, और प्रोफ़ेसर रघुनंदनप्रसाद ने कमरे में पदार्पण करते हुए उनका यथोचित अभिवादन किया। उनके कुर्सी पर बैठ जाने पर डाक्टर साहब ने मुस्कराते हुए पूछा—"कहिए प्रोफ़ेसर साहब, अब तो तबियत बिलकुल साफ़ है न ?"

"जीहाँ"—प्रोफ़ेसर रघुनंदनप्रसाद ने कुछ गंभीरता से कहा। फिर बोले—"देखिएगा, बुख़ार तो अब नहीं जान पड़ता ?" यह कहते हुए उन्होंने अपना दाहना हाथ नब्ज़ दिखलाने की ग़रज़ से डाक्टर साहब की तरफ़ बढ़ाया।

डाक्टर साहब ने नब्ज़ देखकर कहा—तुम्हारा अनुमान ठीक है। पर अभी ५-७ रोज़ और आराम करने के बाद ही कालेज जाना ठीक होगा। छुट्टियाँ तो अभी होंगी ही। अगर ज़रूरत हो, तो कहो, मैं सर्टिफ़िकेट लिख दूँ।

"जी नहीं, छुट्टियाँ अभी ७ रोज़ की बाक़ी हैं। कोई आवश्यकता नहीं। अगर आज्ञा हो, तो आज शाम को

गाड़ी से आगरे लौट जाने का विचार है। वहीं चलकर आराम करना ठीक होगा।"

"अच्छी बात है, तुम जा सकते हो। पर याद रहे, स्वास्थ्य की तरफ़ हमेशा ध्यान रखना।"

"आपकी आज्ञा शिरोधार्य है।"

यह कहते हुए प्रोफ़ेसर रघुनंदनप्रसाद ने जेब से नोटों का एक बंडल, जिसमें ५००) के नोट थे, निकाला और संकोच-युक्त भाव से उसे डाक्टर साहब को देते हुए बोले—"यह आपकी सेवा में मेरी चिकित्सा के पुरस्कार-स्वरूप भेंट है, स्वीकार कर अनुगृहीत कीजिए।"

डाक्टर साहब ने उन्हें यह कहकर लौटा दिया कि "तुम्हारे पिताजी से परम घनिष्ठता होने के कारण मैं तुम्हें अपने लड़के के ही समान समझता हूँ। अतएव यह ५००) रुपए, जो तुम मुझे दे रहे हो, अपने पिताजी को मेरी तरफ़ से यह कहकर लौटा देना कि इन्हें वह तुम्हारे विवाह के शुभ अवसर पर अपनी नवपुत्र-वधू के लिये किसी वस्तु के उपहार-स्वरूप ख़र्च कर दें।"

प्रोफ़ेसर रघुनंदनप्रसाद ने सकुचाते हुए कहा—"जब उक्त अवसर आवे ही नहीं, तब ?"

डाक्टर साहब आश्चर्य-पूर्वक बोले—तुम्हारे-जैसे अनुभवी युवक को ऐसा विचार मन में लाना कदापि शोभा नहीं देता। ईश्वर ने चाहा, तो वह दिन बहुत जल्द

आएगा, जब तुम इसी लखनऊ में पुनः शीघ्र ही 'वर' के रूप में पदार्पण करोगे।

प्रोफ़ेसर रघुनंदनप्रसाद ने कुछ अन्यमनस्क होकर कहा—"मैं कुछ समझा नहीं।"

डाक्टर साहब बोले—तुम्हारी शादी मैंने यहीं लखनऊ में तजवीज़ की है। पं० मुरलीमनोहरजी को तुम आगरे से जानते ही होगे। बड़े ही सज्जन पुरुष हैं। उन्हीं की लड़की है। लड़की के विषय में ज़्यादा कुछ न कहकर मैं केवल इतना ही कहूँगा कि तुम उसे स्वयं देख लो; क्योंकि मैं इस ख़याल का ज़रा-भर भी हामी नहीं कि विवाह-जैसा ज़िम्मेदारी का कार्य बग़ैर उनकी आपस की जानकारी के किया जाय, जिन्हें कि आजन्म निभाना है। मेरा तो ख़याल है कि आगरे में बहुत दिनों तक पड़ोस ही में रहने के कारण तुम एक-दूसरे से अवश्य ही परिचित होगे। इसके अतिरिक्त हर बात की ज़िम्मेदारी तुम मुझ पर रख सकते हो। आशा है, तुम इस प्रस्ताव को सहर्ष स्वीकार करोगे।

प्रोफ़ेसर रघुनंदनप्रसाद और जानकी बचपन में साथ ही के खेले हुए थे। दोनों में अटूट स्नेह था, यहाँ तक कि उनके इस अपूर्व स्नेह को देखकर ही एक दिन बातों-ही-बातों में रघुनंदनप्रसाद की माँ ने जानकी की माँ से कहा था—"भई, मैं अपने रघुनंदन को तो तुम्हारी जानकी

से ही ब्याहूँगी। बोलो, तुम्हें स्वीकार है ?" कमला ने प्रसन्न होकर हँसते हुए कहा था--"क्यों नहीं, चाहो तो अभी टीका चढ़वा लो। ईश्वर करे, वह दिन बहुत जल्द आवे।" इस पर उन्होंने रघुनंदन से पूछा था--"क्यों रे, तू जानकी से शादी करेगा ?" यद्यपि रघुनंदन उस समय यह नहीं जानते थे कि शादी क्या होती है, फिर भी वह यह सोचकर बहुत खुश हुए थे कि जानकी और मैं अच्छे-अच्छे कपड़े पहनकर दूल्हा-दुलहिन बनेंगे, और खूब खेलेंगे। और उत्तर में उन्होंने खुशी-खुशी अपनी तुतली बोली में कहा था--"हाँ, अम्मा ! ज़रूर करूँगा।"

कई साल तक एक-दूसरे के सहयोग में दोनों आगरे में सुख-पूर्वक रहे। इसके बाद रघुनंदन को कालेज की पढ़ाई के लिये आगरा छोड़ इलाहाबाद जाना पड़ा। उसके कुछ ही दिनों बाद मुरलीमनोहरजी की भी बदली लखनऊ को हो गई। वह भी सकुटुंब आगरा छोड़ लखनऊ चले आए।

* * *

डाक्टर साहब के उपर्युक्त वाक्य कहने पर उनके हृदय में जानकी की प्रिय स्मृति जाग्रत हो उठी। उसकी सहनशीलता, कार्यकुशलता एवं बुद्धि की तीव्रता से वह भली भाँति परिचित थे। अतएव उन्हें इसमें कोई

आपत्ति न जान पड़ी। हृदय के भावों को छिपाकर उन्होंने संकोच-युक्त भाव से कहा—"आपकी आज्ञा नहीं टाल सकता। किंतु, इस विषय में पूज्य पिताजी के रहते हुए आपके प्रस्ताव को स्वीकार करने का मैं अपने को अधिकारी नहीं समझता। क्षमा कीजिएगा।"

"यह तो तुम्हारा कहना ठीक है, और वैसा ही होगा भी; पर इतना तो अवश्य ही मालूम हो जाना चाहिए कि इस संबंध में तुम कहाँ तक सहमत हो? विना तुम्हारी राय जाने उनसे पूछना व्यर्थ है।"

"मुझे तो कोई आपत्ति न होगी"—प्रोफ़ेसर रघुनंदन-प्रसाद ने दबी ज़बान से कहा और चल दिए।

(५)

कुछ दिनों के बाद डाक्टर साहब ने मुरलीमनोहरजी को मोटर भेजकर बुलाया, और स्वागत करके बोले—उस दिन आपके जाने के थोड़ी ही देर बाद प्रोफ़ेसर रघुनंदनप्रसाद आए थे। शायद उन्हें आप देख चुके हैं। अवस्था २५ साल की है, बड़े होनहार युवक हैं। मेरे ख़याल से अगर कहीं उनसे जानकी की शादी हो जाय, तो क्या ही अच्छा हो। मेरी दृष्टि में तो इससे अधिक अच्छा घर और वर मिलना यदि असंभव नहीं, तो कठिन अवश्य है। उच्चशिक्षा-प्राप्त एवं ख़ूब संपत्तिशाली हैं, तिस पर १५०) मासिक वेतन पर पहले-पहल गवर्न-

मेंट सर्विस पर नौकर हुए हैं। लड़की सुख-पूर्वक रहेगी, किसी चीज़ की कमी नहीं है। और क्या चाहिए? अगर आप उचित समझें, तो सब ठीक-ठाक कर इसी महीने में यह कार्य करा दिया जाय; क्योंकि शुभ कार्य में विलंब करना उचित नहीं। जितनी ही जल्दी हो सके, उतना ही अच्छा है। हाँ, रघुनंदन कुछ सरकारी कार्य से यहाँ आए हुए हैं, शायद आज शाम को आगरे वापस चले जायँगे। अगर कहिए, तो उन्हें आपसे मिला दें।

डाक्टर साहब की इस असीम कृपा के भार से पं० मुरलीमनोहर दब-से गए। उन्हें ऐसा मालूम हुआ, मानो वह कोई सुखद स्वप्न देख रहे हों। यों तो जब से उन्होंने डाक्टर साहब के लखनऊ आने की खबर सुनी थी, तभी से, विशेषकर उस दिन सुबह की बातचीत से, जिसमें डाक्टर साहब ने अपना अमूल्य समय देकर सच्चे दिल से उनकी पूर्ण सहायता करने का वचन दिया था, वह अपने हृदय में बहुत-कुछ निश्चिंतता का अनुभव करने लग गए थे; पर इस वक़्त की बातचीत में तो उनसे कुछ कहते न बन पड़ा। पं० चंदनप्रसाद के साथ प्रोफ़ेसर रघुनंदनप्रसाद से ही तो उस दिन बनारसीबाग़ में उनका साक्षात्कार हुआ था। अहा! कैसा भोला-भाला, सौम्य, सरल-स्वभाव युवक था।

चेहरे पर कैसी सादगी और शांति विराजमान थी। उसके सुकोमल कंठ से कैसी सरस एवं गंभीर ध्वनि निकलती थी। बातचीत करने का ढंग कैसा निराला था, उसकी एक-एक बात से कैसी पूर्ण विद्वत्ता झलकती थी। शरीर से भी कैसा तेज टपक रहा था, यद्यपि वह शरीर पूर्ण स्वस्थ नहीं, वरन् कुछ अस्वस्थ-सा ही था। हृदय के भावावेग को बलपूर्वक दबाते हुए उन्होंने कहा—उनके साथ तो कुछ दिन हुए बनारसी-बाग़ में भेंट हुई थी, और वहीं पं० चंदनप्रसादजी से यह भी मालूम हुआ था कि वह यहाँ आपसे अपना इलाज कराने आए थे।

"हाँ, उधर पढ़ने-लिखने में ज्यादा स्टडी करने से उनकी तबियत कुछ ख़राब-सी हो आई थी। कामता-प्रसादजी कमज़ोर दिल के आदमी तो हैं ही, बहुतेरा मना करने पर भी उन्होंने लड़के को जल-वायु-परिवर्तनार्थ मेरे साथ यहाँ भेज ही दिया था। पं० चंदन-प्रसादजी के निकट संबंधी होने के कारण वह उन्हीं के यहाँ ठहरे हुए भी थे। तब तो आपने अपने 'भावी जामाता' के दर्शन स्वयं ही कर लिए हैं। अच्छा, यह तो बताइए कि पूजा कब कीजिएगा?"—डाक्टर साहब ने कुछ मुस्कराते हुए पूछा।

मुरलीमनोहर नम्रता-पूर्वक बोले—"यह सब आपकी

आज्ञा पर निर्भर है। मैं तो अटल भक्तिपूर्वक तैयार हूँ। किंतु, पं० कामताप्रसादजी इस कार्य में सहमत होंगे—इसमें मुझे संदेह है; क्योंकि मैं किसी बात में भी उनकी बराबरी......

"यह सब आपका भ्रम है। पं० कामताप्रसादजी दान-दहेज़ के भूखे नहीं हैं। लड़की शिक्षित, सच्चरित्र, सुशील एवं उनके योग्य लड़के के अनुरूप ही कुलीन घर की हो, वही उनके लिये अनमोल निधि है। ईश्वर की कृपा से जानकी में ये सभी गुण विद्यमान हैं, जो उनसे भी छिपे नहीं हैं। यह देखिए, उन्होंने इस संबंध को सहर्ष स्वीकार कर लिया है।"

यह कहते हुए डाक्टर साहब ने जेब से तार का एक लिफ़ाफ़ा निकालकर पं० मुरलीमनोहरजी के हाथ में दे दिया।

मुरलीमनोहरजी उसे देखते ही अवाक् रह गए। मानो लाखों रुपए की लाटरी अपने नाम निकलने का तार पाया हो। कुछ देर तक वह तार का काग़ज़ एकटक देखते रहे। पहले तो आँखों पर विश्वास ही न हुआ, पर जब अपने को सँभालकर ग़ौर से उसे पढ़ा, तो सब समझ में आ गया। हृदय में सुख और संतोष का सागर-सा उमड़ आया। डाक्टर साहब के प्रति उनके हृदय-रूपी सुखसागर में श्रद्धा-प्रेम-रूपी असंख्य लहरें

हिलोरें लेने लगीं। जिनके भावावेग में सामने कुर्सी पर बैठे हुए डाक्टर साहब उन्हें ऐसे मालूम हुए, मानो कोई साक्षात् देवता उन्हें इच्छानुकूल वरदान देकर उनके सामने बैठे हों। वह मन-ही-मन उनकी निःस्वार्थ उदारता का गुणगान कर उन्हें प्रणाम करने लगे, और लगे उनकी इस अपूर्व कृपा को देख अपने भाग्य की सराहना करने।

हृदय के उन उमड़ते हुए भावों को बल-पूर्वक दबाते हुए अत्यंत श्रद्धा एवं विनय के स्वर में वह बोले—"आपकी कृपा का सदैव आभारी रहूँगा। कई महीनों से दिन-रात जी-तोड़ प्रयत्न करने पर भी जिस कार्य को मैं आज तक अपनी इच्छानुकूल कहीं भी निश्चित न कर सका, वही कार्य केवल थोड़े ही दिनों में 'अभिलाषा' से भी कहीं अधिक अच्छे रूप में निश्चित कर, आपने जो परम अनुग्रह किया है, उसे हम कभी नहीं भूल सकते। ईश्वर आपको इसका बदला दे।"

यादगार

यादगार

(१)

निर्मल चाँदनी रात्रि की सुहावनी संध्या थी। प्रायः सात बजे होंगे। एक सुविशाल भवन के दुमंज़िले पर विस्तृत कमरे के मध्य में एक टेबिल तथा दो-चार कुर्सियाँ पड़ी हुई हैं। सामने ही एक रुग्णशय्या के निकट दो युवक कुर्सियों पर गर्दन के बल झुके हुए इस प्रकार बैठे हुए हैं, मानो किसी गंभीर चिंता में निमग्न हों। दोनों समवयस्क हैं। यद्यपि दोनों के कांतिवान् मुखमंडलों पर चिंता की गहरी छाया स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रही है, किंतु इस पर भी दोनों के चेहरों में अनुपम सौंदर्य सम्मिलित कुछ ऐसा आकर्षण है कि दृष्टि पड़ जाने पर हठात् वह सर्वसाधारण को कुछ क्षण के लिए अपनी ओर आकर्षित किये विना नहीं रहता।

कुछ देर तक दोनों मूर्तियाँ यों ही स्तब्ध बनी रहीं। तदनंतर भवन के बाहरी फाटक को चीरती हुई एक मोटर सामने दरवाज़े पर आ लगी और उसके हार्न की आवाज़ सुनते ही दोनों युवक उठ खड़े हुए, मानो इस

ध्वनि को सुनने के लिए दोनों के कान पहले ही से उतावले हो रहे हों। वास्तव में बात भी कुछ ऐसी ही थी।—यह डाक्टर साहब की मोटर थी।

डाक्टर साहब के मोटर से उतरते ही दोनों ने उनका कृतज्ञता-पूर्ण नेत्रों से स्वागत किया।

कमरे में पहुँचते ही डाक्टर साहब ने अपना टोप उतार डाला और रोगी की चारपाई के पास एक कुर्सी पर बैठते हुए बोले—"निर्मल बाबू ! हालत तो दिन से इस वक़्त कुछ अधिक ख़राब हो गयी है।"

"जी हाँ, आपके चले जाने के बाद थोड़ी देर तक तो वही पूर्व-स्थिति बनी रही, लेकिन बाद में एकाएक हालत कुछ ऐसी गिर गयी कि मेरा तो धैर्य ही जाता रहा। किंतु सौभाग्य से ये मेरे परम मित्र—श्रीयुत कंचनकुमारजी—ने तुरंत ही उस अवसर पर पहुँचकर मुझे एक विकट-संकट से बचा लिया। मुझमें तो उस वक़्त इतना भी साहस न रहा कि आपको फोन तक कर सकूँ।"

डाक्टर साहब ने एक हाथ में नब्ज़ ली तथा दूसरे से यंत्र-द्वारा शरीर की परीक्षा करने लगे। उसके पश्चात् एक दीर्घ-दृष्टि से रोगिणी के कांतिहीन चेहरे को देखकर बोले—"निर्मल बाबू ! मैं इसके पूर्व भी आपसे अपनी राय प्रकट कर चुका हूँ, और फिर भी वही बात दोहराता हूँ कि आप इन्हें यथाशीघ्र पहाड़ पर पहुँचाने का

प्रबंध करें। बीमारी जड़ पकड़ती जा रही है, यदि समय रहते उचित व्यवस्था न की जायगी, तो आप जानते हैं, उसका क्या परिणाम होगा ? मेरी राय में तो अभी कुछ नहीं बिगड़ा है । साथ ही मेरा यह भी विश्वास है कि पहाड़ी जलवायु से इन्हें अवश्य आरोग्य-लाभ होगा।"

"डाक्टर साहब ! समवेदना-युक्त इस उचित परामर्श के लिए मैं आपका आभार मानता हूँ । किंतु खेद है कि कई प्रकार की गृह-संबंधी रुकावटों के कारण ही मैं आपके पहाड़ भेजने के परामर्श को कार्य-रूप में परिणत नहीं कर सका । यदि हो सका तो अब मैं इस पर पुनः..............."

डाक्टर साहब बात काटते हुए बोले--"निर्मल बाबू ! मैंने तो अपना फ़र्ज़ समझकर आपको समय रहते हुए चेतावनी दे दी है, अब जैसी आपकी इच्छा हो, वैसा कीजिए। किंतु इतना अवश्य स्मरण रखिएगा कि समय चूक जाने पर फिर कोई भी उपाय सार्थक नहीं होता।"

(२)

प्रभा को रोग-ग्रस्त हुए यह चौथा महीना बीत रहा है। बीमारी के इतने दिनों में अनेकों उपचार किये गये, सैकड़ों रुपये दवा एवं डाक्टरों की फ़ीस आदि में व्यय हुए, किंतु कोई भी प्रयत्न सफल न हुआ। इसके विपरीत बीमारी दिन-प्रति-दिन बढ़ती ही गयी। आरंभ

में तो पत्नी की बीमारी के प्रति कुछ तो अपनी लापरवाही एवं कुछ माता के कठोर शासन के कारण निर्मल बाबू का विशेष ध्यान न गया। लेकिन जब देखा कि परिस्थिति विकट होती जा रही है, तब तो उन्हें विशेष चिंता हुई। वास्तव में अपनी जीवन-सहचरी की ऐसी बुरी दशा को देखकर वह कौन-सा मानव-हृदय है, जो एक बार तड़प न उठे? किंतु निर्मल बाबू के सामने तो इससे भी कठिन परीक्षा थी। षोड़शी अर्द्धांगिनी के सहयोग द्वारा जिस संसाररूपी यात्रा को तय करने के लिए अभी-अभी उन्होंने पग बढ़ाया ही था कि दैवात् ठिठुककर रुक जाना पड़ा।

× × ×

निर्मल बाबू एक प्रतिष्ठित कुल के व्यक्ति थे। आपके पिता की काफ़ी ख्याति थी। आप शहर के प्रतिभाशाली एडवोकेट थे। उन्हें निर्मल बाबू को भी अपने ही समान वकालत का गौरव प्राप्त कराने की परम लालसा थी। ईश्वर की कृपा से वह इच्छा पूर्ण भी हो गयी और उनके जीवनकाल में ही उनके सुयोग्य पुत्र निर्मलचंद्र ने क़ानूनी-परीक्षा योग्यतापूर्वक पास करके वकालत शुरू कर दी।

यद्यपि पैतृक संपत्ति भी कुछ कम न थी, तो भी निर्मल बाबू की आय से उसमें उत्तरोत्तर वृद्धि होती गयी। पिता

की ख्याति से लोगों के दिलों पर आपका भी सिक्का जमने लगा और वकालत अच्छी चलने लगी। किंतु ऐसी हालत में भी आप सदैव धन और यशोपार्जन की इच्छा के ही दास बने रहे। यदि यह कहा जाय कि इसी इच्छा के वशवर्ती होकर आपने आरंभ से ही अपनी नवयौवना सहधर्मिणी की चिकित्सा की ओर विशेष ध्यान न दिया, तो कदाचित् कोई अत्युक्ति न होगी। पिता के यश एवं आपकी मिलनसारी के कारण आपके सुहृद् जनों की संख्या भी कुछ कम न थी। इन्हीं में हमारे पूर्वपरिचित श्रीयुत कंचनकुमार भी थे, जो आपके सच्चे एवं अंतरंग मित्र थे। दोनों जैसे ही समवयस्क थे, वैसे ही एक-दूसरे के दिल प्रेम और श्रद्धा के पवित्र भाव जागरण करनेवाले भी।

(३)

कचहरी से लौटकर निर्मल बाबू ने कपड़े बदले और पैर बढ़ाते हुए सीधे प्रभा के कमरे में पहुँचे। कमरे में सन्नाटा छा रहा था, बड़ा कारुणिक दृश्य था। प्रभा कुछ तो बीमारी के कष्ट के कारण और कुछ विरह-वेदना की व्यथा से पलँग पर पड़ी हुई कराह रही थी। सिर-हाने बूढ़ी सास बैठी हुई आँसू बहा रही थीं, और सामने निर्मल बाबू की छोटी बहन कुमारी कुसुम खड़ी-खड़ी पंखा झल रही थी। निर्मल बाबू के कमरे में प्रवेश

करने की आहट पाते ही प्रभा का कांतिहीन मुखमंडल एक अलौकिक प्रेमोल्लास से उद्दीप्त हो उठा। शुष्क अधरों पर थोड़ी देर के लिए एक गुलाबी मुसकान छा गयी; मानो उनके स्वागत का यह मूक आह्वान था।

यह देखकर निर्मल बाबू का हृदय भर आया। एक क्षण के लिए उनका मन सारी चिंताओं से मुक्त होकर सुखस्वप्नों की कल्पना के स्वच्छाकाश में विचरण करने लगा। उन्हें सुखमय जीवन के वे दिन याद आने लगे, जब प्रभा अपनी श्रद्धा एवं स्नेह से भरी हुई आँखों की अनुपम चितवन द्वारा नितप्रति द्वार पर ही उनका स्वागत करके उनकी दिन-भर की थकान को क्षण-भर में ही दूर कर देती थी। आह! वे सुख के दिन बिजली की तरह कितनी शीघ्रता से निकल गये, और अब ये दिन हैं, जो काटे नहीं कटते। इसी प्रकार की बातें सोचते-सोचते वह एकाएक विचलित हो उठे।

उन्हें इस प्रकार चिंतित देखकर अम्मा से न रहा गया, बोलीं—"क्यों बेटा, आज तुम चुप कैसे हो? बोलते क्यों नहीं? अगर तुम्हीं इस प्रकार अपना दिल छोटा कर लोगे, तो फिर हमीं लोग किसके भरोसे धीरज धरेंगी? कुसुम! जाकर नौकर से कह दो कि वह चाय का सामान यहीं ले आवे और तुम भय्या के लिए एक तश्तरी में मेवे लेती आना।"

"नहीं अम्मा, रहने दो; मुझे भूख नहीं है। चा-वा भी आज मैं कुछ न पीऊँगा।"

"क्यों, क्या जी अच्छा नहीं है?"--अम्मा ने चिंतित होकर पूछा।

"नहीं, ऐसी कोई बात नहीं।"

"तो फिर?"

"कुछ नहीं, यों ही इच्छा नहीं होती।"

अम्मा और कुछ कहने ही जा रही थीं कि इतने ही में कुसुम ने मेवे की तश्तरी लाकर सामने रख दी और स्नेह-भरी आँखों से याचना-युक्त दृष्टि से निहारते हुए उनसे जलपान करने का प्रबल आग्रह करने लगी।

बहन के इस प्रेमपूर्ण आग्रह को टालने की उन्हें इच्छा न हुई, और अंत में प्रेम के सामने चिंता ने सिर झुका लिया।

(४)

कंचन बाबू ने कमरे में प्रवेश करते हुए पूछा--"भाई साहब, देखिए, इस वक़्त टैम्परेचर कितना है?"

निर्मल बाबू ने थर्मामीटर लगाकर देखा तो बुख़ार १०२ डिग्री से कुछ प्वाइंट ऊपर था। बोले--"कंचन भैया, मुझे तो अब प्रभा के जीवन की ज़रा भी आशा नहीं। देखो न, कोई भी चिह्न ऐसे नहीं दिखलाई पड़ते, जिनसे कि यह आशा की जा सके। इसके विपरीत

कफ एवं खाँसी की रफ़्तार दिन-दिन बढ़ती ही जा रही है। लोग कहते हैं कि जैसे दमा दम के ही साथ जाता है, वैसे ही यह बीमारी भी. जान पड़ता है, जिसका पीछा पकड़ती है उसे जीते-जी नहीं छोड़ती।"

अम्मा ने निर्मल बाबू की बात का समर्थन करते हुए कहा—"और नहीं तो क्या। सुनती हूँ, स्वयं डाक्टर साहब की—जो बहू का इलाज कर रहे हैं—छोटी लड़की भी तो इसी दुष्ट रोग की शिकार थी। देखो न, उसे तक डाक्टर साहब न बचा सके। जो बात अपने बस के वाहर हो, उसके लिए कोई क्या करे? यह मुई बीमारी ही ऐसी है कि इसके आगे किसी की भी कुछ नहीं चल पाती।"

कंचन बाबू उन्हें दिलासा देते हुए बोले—"आप लोगों की ऐसी निराशापूर्ण बातें सुनकर तो बड़ा दुःख होता है। वास्तव में यक्ष्मा एक भयंकर रोग अवश्य है, किंतु इसका मतलब यह नहीं कि वह आरंभ से ही असाध्य समझा जावे और उसका कोई उपचार ही न हो। मैंने तो पहाड़ पर इस रोग से ग्रसित ऐसे-ऐसे मरीज़ तक देखे हैं, जिनके जीवन की आशा तो स्वयं बड़े-बड़े डाक्टरों ने तक छोड़ दी थी। किंतु पहाड़ी जल-वायु के सेवन एवं वहाँ की चिकित्सा और भ्रमण का यह अद्भुत प्रभाव पड़ा कि उनमें से अधिकांश पूर्ण

स्वस्थ होकर अब आराम की ज़िंदगी व्यतीत कर रहे हैं।"

अम्मा ने अपने कथन की सार्थकता दिखाते हुए कहा—"तो इसे तुम पर्वत-यात्रा की ही महिमा कैसे सिद्ध करते हो? मैं तो कहूँगी कि तब तो उनकी जीवन-यात्रा का बहुत कुछ मार्ग बाक़ी रहा होगा। ऐसी हालत में मनुष्य जहाँ कहीं भी रहे, उसके जीवन की कोई हानि नहीं हो सकती। इसके अतिरिक्त पहाड़ पर तो यहाँ की अपेक्षा हर प्रकार की सुविधाओं के बजाय तरह-तरह की दिक़्क़तें ही अधिक उठानी पड़ती होंगी। केवल जल-वायु में ही ऐसी कौन-सी संजीवनी-शक्ति है, जो कि अन्य दूसरे कष्टों का मुक़ाबला कर सके?"

निर्मल बाबू को भी जिरह का मौक़ा मिला, और मा का पक्ष लेते हुए झट बोल उठे—"क्यों भाई, ख़स की टट्टियों से घिरे कमरे में चलते हुए विद्युत् पंखे की यह हवा और बरफ़ का पानी क्या उस पहाड़ी जल-वायु की तुलना नहीं कर सकते?"

कंचन—"आप सुचतुर वकील हैं, अतएव मैं आपसे बहस करने का हौसला तो नहीं रख सकता, लेकिन क्षमा कीजिए, इतना तो अवश्य कहूँगा कि यदि आप एक बार भी कभी पहाड़ हो आये होते, तो आपको

मेरे यथार्थ कथन में नाम-मात्र का भी संदेह शेष न रह जाता। भला कल्पना तो कीजिए, कहाँ वह परम मनोहर स्वच्छ प्राकृतिक सौंदर्य और कहाँ यह दूषित कृत्रिमता! बरफ़ का पानी—जिसकी तुलना आप गिरि की चोटी से कल-कल ध्वनि द्वारा बहते हुए झरने के उस सुशीतल एवं आरोग्यवर्धक जल से कर रहे हैं—यद्यपि पीते समय ठंडा अवश्य मालूम पड़ता है, किंतु कहने की आवश्यकता नहीं कि उसकी तासीर काफ़ी गर्म है। बाद को उससे जो नुक़सान होता है, शायद वह भी आपसे छिपा नहीं। और झरने का वह ताज़ा और स्वादिष्ठ जल, उसे तो आप जितना भी पीजिए, तनिक भी हानि की संभावना नहीं। वह तो वहाँ की स्वास्थ्यप्रद वनौषधियों में शामिल है। अहा! पर्वतों के छोर से बहता हुआ वह 'मंद-सुगंध-शीतल' त्रिविध-गुण-संपन्न तापहारी सुहावना समीर—जो कि मुर्दे के भी शरीर में क्षणमात्र के लिए जीवन डाल देता है—का तो कहना ही क्या? चीड़ के सघन वृक्षों से आच्छादित रमणीक जंगलों में टहलते समय उन वृक्षों से छन-छनकर आती हुई वह हवा—जो यक्ष्मा के रोगी के शरीर में वास्तव में संजीवनी शक्ति का ही संचार करती है—क्या लाख प्रयत्न करने पर भी यहाँ प्राप्य है? यही कारण है कि बड़ी दूर-दूर से सभी प्रांतों के सैकड़ों यक्ष्मा-रोगी

हज़ारों रुपयों का व्यय सहन करके वहाँ अपने अमूल्य जीवन की रक्षार्थ आये हुए दिखलायी पड़ते हैं।"

कंचन बाबू की अत्युक्ति-रहित इस स्पष्ट वार्ता से अम्माजी की आँखें खुल गयीं। उत्कंठित हृदय से उत्सुकतापूर्ण नेत्रों द्वारा कंचन बाबू की तरफ़ देखते हुए पूछा—"तब तो वहाँ रोगियों की चिकित्सा का भी तो अच्छा प्रबंध रहता होगा, डाक्टर आदि भी अनुभवी होते होंगे।"

कंचन—"चाची! तुम्हारे हृदय में पहाड़ की कष्ट-कल्पना की जो जड़ अतीत काल की अतिशयोक्तियों से जमी हुई है, जान पड़ता है, तुम इसी से ऐसे प्रश्न कर रही हो। इस बीसवीं सदी में तो सभ्यता के जितने भी आविष्कार हुए एवं हो रहे हैं, शायद उतने पहले कभी न सुने गये होंगे। यह तो तुम्हें मालूम ही है कि सभ्यता-प्रेमी अँगरेज़ जाति तथा बड़े-बड़े राजे-महाराजे आदि सब संपन्न लोग गर्मियों में अक्सर पहाड़ पर ही रहा करते हैं। ऐसी दशा में वहाँ बड़े-बड़े सिविल-सर्जन आदि का होना तो एक मामूली-सी बात है। तुमने शायद 'भुवाली' ऐसे सुप्रसिद्ध स्थान का नाम तो सुना ही होगा। यहाँ पर यक्ष्मा के रोगियों के लिए एक सुप्रसिद्ध चिकित्सालय बना हुआ है, जिसका नाम 'किंग-एडवर्ड-सैनिटोरियम' है। यह स्थान स्वास्थ्य के लिए

इतना अनुकूल है कि वहाँ से अधिकांश रोगी—जैसा कि मैं पहले भी कह चुका हूँ—स्वास्थ्य-लाभ करके ही लौटते हैं। मेरे विचार से तो अब आप लोगों को बिना विलंब भाभी को लेकर पहाड़ पर पहुँच जाना चाहिए। यही सम्मति डाक्टर साहब भी कई बार प्रकट कर चुके हैं।"

कंचन बाबू की बातों का अम्मा के हृदय पर गहरा असर हुआ देखकर निर्मल बाबू मन-ही-मन क्रुद्ध बैठे—वाह री स्वार्थान्धता ! धन और यशोलिप्सा की ऐसी प्रबल वासना उनके हृदय में जागृत हो चुकी थी कि जिसके सामने उनकी दृष्टि में पत्नी के जीवन का कोई भी मूल्य न था। झुँझलाते हुए बोले—"भाई, तुम्हारे और डाक्टर साहब के परामर्श पर मैं काफ़ी सोच-विचार कर चुका हूँ, किंतु खेद है कि उचित साधनों के अभाव में उसे कार्यरूप में परिणत करना मेरे लिए कठिन है। पर्वत-यात्रा कोई हँसी-खेल तो है नहीं, उसके लिए तो काफ़ी समय और साधनों की आवश्यकता है। मुझे तो तुम जानते ही हो कि सौभाग्य अथवा दुर्भाग्य से एक क्षण का भी अवकाश कभी प्राप्त नहीं होता। यह पेशा ही ऐसा है कि जिसमें मनुष्य को हमेशा पर-इच्छा का ही दास बना रहना पड़ता है। जो इस सिद्धांत का तत्परता से पालन न करे, तो समझो उसके इस

त्र से हट जाने में ही कुशल है। ऐसी परिस्थिति में तुम
स्वयं सोच सकते हो कि मुझ-सरीखे अकेले व्यक्ति के
लए यह समस्या कितनी कठिन है।

इस पर अम्मा ने तीव्र प्रतिवाद करते हुए कहा—
बेटा! अवकाश की चिंता करने का तो यह अवसर ही
हीं है। यह तो जीवन का प्रश्न है। जीवन के रहने पर
प्रवकाश की चिंता करने के तो अनेकों अवसर आ-जा
सकते हैं, किंतु असावधानीवश यदि वह अमूल्य जीवन-
निधि ही खो गयी, तो क्या फिर कभी लौट सकती
? आखिर यह सब पेशे की चिंताएँ तो उसी जीवन
; लिए ही हैं न? जब वही न रहेगा, तो यह सब फिर
कस लिए? नहीं-नहीं, मुझे यह सब कुछ भी न
ाहिए। तुम्हें हम सबको लेकर शीघ्र ही बहू की
चकित्सा के लिए पहाड़ पर चलना ही होगा।"

निर्मल बाबू यह सुनकर अवाक् रह गये। जो अम्मा
अभी कुछ समय पूर्व तक उन्हीं के वाक्यों को 'ब्रह्मवाक्य'
समझकर सदैव उनका समर्थन करने में ही अपना गौरव
समझती थीं, वही अब उनके कथन का इस प्रकार घोर
तिवाद करने लगीं! वास्तव में यह सब कंचन की ही
धृष्टता है। इसी की लच्छेदार बातों ने उन पर यह जादू
ा-सा असर किया है। यह सोचकर कंचन बाबू की
रफ़ एक तीक्ष्ण दृष्टि फेरते हुए, आवेशपूर्ण स्वर में

अम्मा से बोले—"तो क्या इस चलती हुई वकालत को त्याग दूँ ? यदि तुम्हारी यही इच्छा हो, तो मैं तुम्हें रोक थोड़े रहा हूँ । तुम अपनी बहू को लेकर कंचन भय्या के साथ चली क्यों नहीं जातीं ? मुझे आशा है कि कंचन भी शायद तुम्हारी इस प्रार्थना को एकदम अस्वीकार न करेंगे।"

यह अंतिम वाक्य उन्होंने व्यंग्य-मिश्रित स्वर से कुछ इस ढंग से कहा कि कंचन बाबू को भी उसका अभिप्राय समझते देर न लगी। बोले—"भाई साहब! मुझे आपका मित्र कहलाने का सौभाग्य प्राप्त है । कहा भी है—'धीरज, धर्म, मित्र अरु नारी; आपति काल परखिए चारी।' ऐसी स्थिति में अपनी हानि सहकर भी, मुझे मित्र का कर्तव्य पालन करने में कोई उज्र नहीं। आपकी सुविधा के लिए चाची का यहीं पर रहना ज्यादा उचित होगा, अतएव उनके स्थान में यदि कुसुम चली चले, तो अधिक अच्छा हो।"

सबकी राय से अंत में यही बात निश्चित हुई, और तीनों जने दूसरे ही दिन शाम का ट्रेन से 'भुवाली' के लिए रवाना हो गये।

(५)

वसंत-ऋतु प्रायः बीत चुकी थी, पहाड़ का मौसम शुरू हो गया था। 'भुवाली' अपने प्रभा-पूर्ण उज्ज्वल

प्राकृतिक सौंदर्य की छटा से शुक्ल पक्ष की चाँदनी की भाँति दिन-दिन विकसित होती जा रही थी। यों तो, कंचन बाबू इसके पहले कई बार पर्वत-यात्रा कर चुके थे, किंतु जो उमंग, उत्साह और परिश्रम के शुभाकांक्षा की उत्कट अभिलाषा इस बार उनके हृदय में थी, वह वास्तव में सराहनीय थी। अपनी विनम्र-प्रकृति के कारण सेनिटोरियम के अधिकारियों के भी आप थोड़े ही समय में प्रेम-पात्र बन गये। ऐसी दशा में प्रभा की चिकित्सा की तरफ़ उनका सावधानतापूर्वक विशेष ध्यान रखना स्वाभाविक ही था। फलतः शनैः-शनैः प्रभा का स्वास्थ्य सुधरने लगा।

× × ×

कई महीनों बाद--

कंचन बाबू अपने पत्रों द्वारा प्रभा के स्वास्थ्य-संबंधा समाचार नियम-पूर्वक निर्मल बाबू को भेजते रहे। किंतु उन्हें इतनी फुरसत ही कहाँ कि पत्रोत्तर तक दे सकें! वह तो उनकी दृष्टि में समय का अपव्यय करना मात्र था।

इधर महीना-भर बीत गया, किंतु निर्मल बाबू को प्रभा का स्वास्थ्य-संबंधी कोई भी समाचार न मिला। लाचार होकर इस बीच में उन्हें कंचन बाबू को पत्र भी लिखना पड़ा, किंतु दुर्भाग्य! उत्तर यथासमय न मिला। यह

देखकर उनके दिल में अतीव चिंता पैदा हुई और पैदा हुई उनके हृदय में अपने सच्चे मित्र के प्रति संदेह की एक महान् कलुषित भावना !! जितना ही वह इस पर विचार करते, संदेह की मात्रा उतनी ही अधिक बढ़ती जाती ! यहाँ तक कि अंत में उसने उनके आंदोलित हृदय पर पूर्ण अधिकार कर लिया ! यह देखकर उन्हें बड़ा क्रोध पैदा हुआ। कंचन बाबू के प्रति उनके हृदय में घृणा-मिश्रित क्रोध की एक भीषण ज्वाला भभक उठी, जिससे उनका सारा शरीर झुलस गया।

आखिर इस आकस्मिक परिवर्तन का क्या कारण है ? क्या कंचन अब वह कंचन नहीं रहा, जिसे मैं अपने सहोदर के समान समझता था। जिसका मैंने सदैव विश्वास किया, यहाँ तक कि अपनी पत्नी तक को आँखों की ओट करके जिसे मैंने विश्वास-पूर्वक सौंप दिया। ठीक है, समय पड़ने पर मित्र भी शत्रु का-सा व्यवहार करने लग जाते हैं। उसका अपनी तर्क-द्वारा अम्मा से प्रभा को पहाड़ भेजने का उतना हठ कराना, एवं मेरे केवल संकेत-मात्र से ही साथ चले जाने के प्रस्ताव को सहर्ष स्वीकार कर लेना ही यह सिद्ध करता था कि उसकी आंतरिक लालसा कुछ और ही थी। पर अब तो यह सब पूरी तौर से स्पष्ट ही हो गया। अच्छा, मैं भी अब उसे इस विश्वासघात का यथोचित दंड दिये बिना न

रहूँगा। इसी प्रकार की बातें सोचते-सोचते आत्म-विस्मृत होकर वह बिलकुल आपे से बाहर हो गये, और पागलों की भाँति कमरे में इधर-उधर टहलने लगे। कंचन बाबू के विरुद्ध षड्यंत्र की स्कीम तैयार करने में अपनी सारी दिमाग़ी ताक़त ख़र्च कर डालने का उन्होंने दृढ़ निश्चय कर डाला। सहसा उन्हें ख़याल आया कि इसके पूर्व पत्र द्वारा चेतावनी देकर क्यों न उस विश्वास-घातक को जी-भर धिक्कार दूँ। एक क्षण का भी विलंब उन्हें असह्य हो उठा। तुरंत लिखने बैठ गये। पत्र में उन्होंने क्या-क्या लिख डाला, इस संबंध में केवल इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि उसमें ख़ूब दिल के फफोले फोड़े गये थे। व्यंग्य-कटाक्षों की तो भरमार थी। पत्र के एक-एक अक्षर से घृणा एवं क्रोध टपक रहा था। इसकी रचना में उन्होंने मस्तिष्क की वह तीक्ष्ण शक्ति ख़र्च की थी, जो शायद बड़ी से बड़ी फ़ीस वाले मुक़द्दमे में भी न की होगी। उसी दिन की डाक से पत्र रजिष्ट्री द्वारा कंचन बाबू के पास रवाना कर दिया गया।

× × ×

एक सप्ताह के बाद उसके उत्तर में उन्हें कंचन बाबू का यह पत्र मिला—

"शांति-कुटीर, भुवाली।

श्रद्धेय भाई साहब !

सप्रेम बंदे।

आपका रजिष्टर्ड पत्र अभी-अभी प्राप्त हुआ। उसे ध्यान-पूर्वक पढ़ने एवं विचारने के बाद मैंने यह उचित समझा कि इस संबंध में अपने वक्तव्य द्वारा मैं उस अनुचित संदेह को मिटाने की चेष्टा करूँ, जो कि आपके हृदय में अकारण ही भ्रम-वश पैदा हो गया है। इसी दृष्टि से मैं यह पत्र लिख रहा हूँ। आशा है, आप मेरे इस कथन पर गंभीरतापूर्वक विचार करने की कृपा करेंगे।

लिखने की आवश्यकता नहीं कि जब से हमलोग यहाँ पहुँचे हैं, तब से अब तक बराबर मेरा अधिकांश समय चिकित्सा-संबंधी प्रबंध आदि की सुव्यवस्था में ही व्यतीत होता रहा है। किंतु ऐसी दशा में भी पूजनीया भाभीजी के स्वास्थ्य-समाचारों से आपको सदैव समय-समय पर सूचित करता रहा हूँ। इधर एकाएक उनका स्वास्थ्य कुछ चिंताजनक हो जाने से अवश्य ही मैं कुछ विलंब से पत्र लिख सका, जिसका कारण और कुछ नहीं, केवल यही था कि स्वयं अपने यहाँ मौजूद रहते हुए आपको व्यर्थ की चिंता में डालना मुझे उचित न जान पड़ा। यद्यपि मेरा वह विचार भ्रमयुक्त था, तो भी मुझे हर्ष है कि उसके द्वारा मुझे अपने प्रति आपके आंत-

रिक भाव को जानकर शीघ्र ही सचेत हो जाने का वह स्वर्ण-संयोग प्राप्त हुआ, जिसकी उस समय मुझे कल्पना तक न थी। अस्तु! विशेष समाचार आदि इसके पूर्व के पत्र से विदित हुए होंगे, जो आपके पत्र के उत्तर में भेज चुका हूँ। शेष सब कुशल है। आशा है, आप भी सकुशल होंगे।

आपका—

आपके ही शब्दों में विश्वासघातक—

अभागा—वही कंचन।"

× × ×

पत्र पढ़कर निर्मल बाबू के हृदय से गंभीर वेदनायुक्त एक लंबी 'आह' निकल पड़ी। हाय! यह मैंने क्या कर डाला! जब तक कंचन अपने सच्चे हृदय से मुझे क्षमा-प्रदान न करे, तब तक क्या इस पाप का कोई प्रायश्चित्त संभव है? नहीं, कदापि नहीं। यह सोचते-सोचते वह आराम कुर्सी पर गिर पड़े। इसी क्षण नौकर ने उन्हें सँभालते हुए एक तार उनके हाथ में दिया। तार प्रभा का था। लिखा था—"कंचन बाबू कल शाम से लापता हैं, कारण अज्ञात है। तुरंत आइए।"

तार पढ़कर उनके पैरों-तले की पृथ्वी खिसक गयी।

(६)

निर्मल बाबू ने पहाड़ पर कंचन बाबू को ढूँढ़ने के लिए हज़ारों प्रयत्न किये, किंतु कहीं भी उनका पता न चला। एक दिन अचानक टेबिल पर पैड के नीचे उन्हें एक पत्र मिला, जिस पर ये शब्द लिखे हुए थे—

"पूजनीया भाभी,

अनेक प्रणाम।

इस पत्र के लिखते समय मेरे हृदय में वेदना का जो तूफ़ान उठ रहा है, उसका शब्दों द्वारा वर्णन करना इस क्षुद्र लेखनी के लिए सर्वथा असंभव है। आह! उस कठोर कर्तव्य की कल्पना से ही मेरा हृदय फटा जा रहा है, जिसे पालन करने के लिए मैं विवश हूँ। भाभी! आज मैं आप लोगों को छोड़कर—कदाचित् सर्वदा के लिए—उस शांति-पथ का पथिक बनने जा रहा हूँ, जहाँ मनुष्य संसार-रूपी वासनाओं की सब चिंताओं से मुक्त होकर एकांत में ईश्वर-उपासना करते हुए उस परम शांति का अनुभव प्राप्त करता है, जो सांसारिक बंधनों से जकड़े हुए प्राणी के लिए सर्वथा दुर्लभ है। मैं जानता हूँ कि मेरे इस कठोर कर्तव्य में कदाचित् आपको कुछ अविश्वास की झलक दिखायी दे, लेकिन मैं आपको विश्वास दिला देना चाहता हूँ कि मेरे हृदय में ऐसा कोई भी कारण नहीं है। केवल परिस्थिति से लाचार होकर ही

मैंने इस दुर्गम पथ की ओर अग्रसर होने की धृष्टता की है। भाई साहब को मैंने आपके नाम से तार देकर शीघ्र बुला भेजा है। आशा है, वह शीघ्र ही पहुँच जायँगे। अंत में ईश्वर से यही एकांत प्रार्थना है कि वह शीघ्र ही आपको पूर्ण आरोग्य प्रदान करे। कुसुम को प्यार। बस, अब विदा।

क्षमाप्रार्थी—

कंचन।"

× × ×

निर्मल बाबू को सपरिवार 'भुवाली' में रहते हुए कई वर्ष हो गये। प्रभा अब बिलकुल स्वस्थ हो गयी है। पत्नी के आग्रह से निर्मल बाबू ने सब इच्छाओं का परित्याग करके–कंचन बाबू की यादगार में–जीवन-पर्यन्त अब पहाड़ पर ही रहने का दृढ़ निश्चय कर लिया है। और उदारता-पूर्वक अपने परम मित्र श्रीयुत कंचनकुमार की पवित्र स्मृति में एक बहुत बड़ा चिकित्सालय भी—'कंचन-आश्रम' के नाम से—खोल दिया है, जिसमें यक्ष्मा के रोगियों की निःशुल्क चिकित्सा की जाती है।
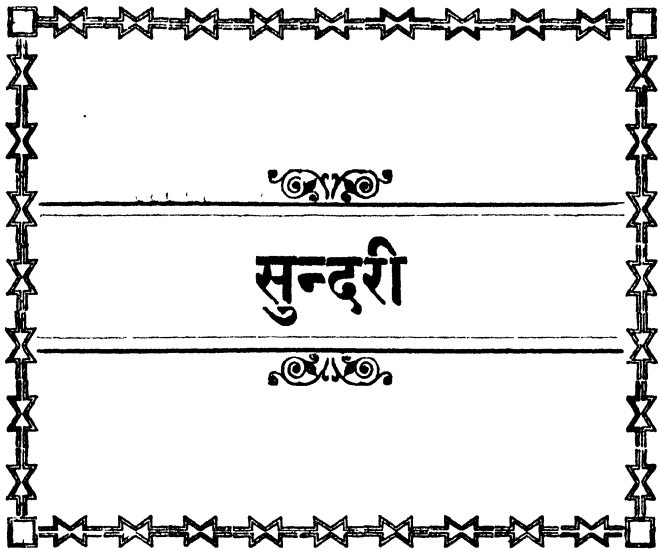
सुन्दरी

सुन्दरी

प्रातःकाल का सुहावना समय था। आकाश में लालिमा छा रही थी। बादलों का लाल, पीला तथा बैजंती रंग उसकी और भी शोभा बढ़ाये हुए था। हृदय को प्रफुल्लित करनेवाली मंद-मंद वायु बह रही थी, वाटिका के विविध रंगों के पुष्पों की अपूर्व शोभा मन को मोहित किये लेती थी। हरी-हरी दूब पर फैली हुई ओस की बूँदें कुछ दूर से देखने से ऐसी मालूम पड़ती थीं, मानो गहरी—हरी मखमल पर अनमोल मोती बिखेर दिये गये हों। इन सब सामग्रियों के बीच में, एक वस्तु और थी--जिसका निरीक्षण किये विना वाटिका का वह नैसर्गिक दृश्य कुछ अधूरा-सा ही रह जाता था—वह था एक सुंदर फ़व्वारा। अहा! उसकी शोभा का क्या पूछना! सुचतुर कारीगर की अद्भुत कला का वह सर्वोत्कृष्ट नमूना था। वाटिका के मध्य-भाग में वह इसी प्रकार शोभित था, जैसे स्वच्छाकाशमें असंख्य तारिकाओं के बीच स्वयं चंद्रदेव। चारों ओर निस्त-

न्धता छा रही थी। हाँ, बीच-बीच में पालतू पक्षियों की सुमधुर रसीली ध्वनि अवश्य उस शांति में कुछ बाधक-सी जान पड़ती थी। ऐसे समय में वाटिका के निर्जन स्थान में पूजा के लिए पुष्प चुनती हुई एक युवती प्रकृति-सौंदर्य के उस अनुपम दृश्य का गंभीरता-पूर्वक अवलोकन कर रही थी। युवती षोड़शी थी। नाम था—सुंदरी। नाम के अनुरूप ही वह वास्तव में रूप और गुण में भी सुंदरी थी। 'यथा नामा तथा गुणाः' की उक्ति उस पर पूर्णरूप से फब जाती थी। प्रथम तो यौवनावस्था, उस पर उसका सादा पहनावा, लजीली चाल-ढाल और मनमोहनी छवि देखकर तो सचमुच स्वर्गीय देवबाला का ही आभास होता था।

रूप और गुणों की उस साकार प्रतिमा—सुंदरी—के उज्ज्वल, प्रकाशमान, आलोकमय सौंदर्य की किरणें—पुष्पवाटिका के उस नीरव प्रदेश में ऐसी शोभित जान पड़ती थीं, मानो समय से पूर्व ही अरुणोदय की सूचना दे रही हों। तथा उनका—सूर्यदेव की प्रभामयी रश्मियों का—समस्त सौंदर्य कुछ काल के लिए उन्हीं में प्रति-बिम्बित हो गया हो। निश्चय ही सृष्टिकर्ता विधाता ने उसकी रचना में तनिक भी कृपणता से काम न लेकर अपनी उदारता का पूर्ण परिचय दिया था। उसके अंग-

प्रत्यंग की सुमनोहर छटा सृष्टिकर्ता की रचना-चातुरी का स्वयं परिचय दे रही थी।

× × ×

विश्रामपुर के दुबे लोगों का घराना कई पीढ़ियों से सर्वसाधारण की दृष्टि में बड़े सम्मान से देखा जाता था। विश्रामपुर ही नहीं, उसके आस-पास भी कई कोसों तक दुबे-कुल की धाक जमी हुई थी। पं० सदानंद दुबे इसी कुल के एक-मात्र छत्राधिकारी थे। ईश्वर की कृपा से दुबेजी को किसी बात की कमी न थी, सुख के सभी साधन उन्हें प्राप्त थे। घर में लक्ष्मी के प्रसाद से सभी संपदाएँ चरणों पर लोटती थीं; बाहर लोगों में भी यथेष्ट सम्मान था। और चाहिए क्या? जिधर निकल जाते, दो-चार खुशामदी पुरुष परछाईं की तरह पीछे लग जाते थे। तथा विरोधी आलोचक उनकी विशाल ऊँची अट्टालिका और राजसी ठाटबाट देखकर लक्ष्मी पर पक्षपात का कलंक लगाये विना भी न रहते थे। अस्तु, यह भी एक सौभाग्य की ही बात थी—जो सर्व-साधारण को नसीब नहीं होती।

सुंदरी दुबेजी की इकलौती बिटिया थी। उसके अतिरिक्त उनकी दूसरी पत्नी से और भी दो संतानें थीं, किंतु ज्येष्ठ पत्नी की प्रथम और एकमात्र संतान होने के कारण वह उसे सबसे अधिक प्यार करते थे।

उसके विना उन्हें क्षण-भर को भी कल न पड़ती थी। इसका कारण था। सुंदरी बाल्यावस्था में ही मातृ-स्नेह के सुख से वंचित हो गयी थी। ऐसी दशा में दुबेजी का स्नेह-पथ में उसके प्रति उत्तरदायित्व कहीं अधिक बढ़ गया था। अथवा, यों कहिए कि माता की ममता और पिता का शुद्ध-स्नेह यह दोनों अब उन्हीं में केंद्रीभूत हो गये थे।

पति का सुंदरी पर इतना अधिक ममत्व तथा अपने बच्चों के प्रति कुछ-कुछ अन्यमनस्कता का-सा भाव बसंती से न देखा जाता था, किंतु दुबेजी के आगे उसकी एक भी न चल पाती थी। ऐसी दशा में वह मन-ही-मन अत्यधिक कुढ़ा करती, किंतु यह सोचकर कि थोड़े ही दिन बाद सुंदरी किसी दूसरे घर में--पराये धन की भाँति—सदा के लिए सौंप दी जायगी, उसे बहुत कुछ संतोष हो जाता। अतएव वह भी प्रकट रूप से सुंदरी के प्रति प्रेमप्रदर्शन में कोई कोर-कसर न रखती, पर भीतर-ही-भीतर विद्वेष की अग्नि से जला करती थी।

× × ×

सुंदरी जब चौदह वर्ष की थी, तभी दुबेजी ने उसकी शादी अपने समान ही उच्चकुल के एक प्रतिष्ठित गृह में बड़ी धूमधाम से कर दी। उस समय उसके पति वकालत पढ़ रहे थे। बचपन से अत्यधिक लाड़-प्यार

में पली रहने के कारण सुंदरी को घर ही पर शिक्षा दी गयी थी, अतएव विवाह के समय वह साधारण पढ़ी-लिखी थी; पर पति के पास रहकर उसने अध्ययन में अच्छी उन्नति कर ली। पतिदेव उसे प्राणों से भी अधिक चाहते थे। पूज्य पति का मधुर सहवास केवल तीन ही वर्ष रहा, लेकिन इन तीन वर्षों के सहवास ने ही उसे उनकी अटल पुजारिन बना दिया। इसके पश्चात् निर्दयी काल ने उन्हें सदैव के लिए सुंदरी से छीन लिया, और उसकी वही गति हुई, जो एक कोमल कली की पाला पड़ने से हो जाती है।

उस समय सुंदरी की अवस्था केवल सोलह वर्ष की थी। इस छोटी-सी उम्र में नवयौवनाएँ भाँति-भाँति की कामनाएँ करती हैं। परंतु उसके भाग्य में भयंकर निराशा तथा घोर दुःख के अतिरिक्त और कुछ न था। वह हिंदू-विधवा थी, और वह भी—बाल-विधवा। ईश्वर ने उसके साथ अनेक उपकार किये थे।—रूप दिया, गुण दिया, धनी-मानी कुटुम्ब में जन्म देकर पिता का अपूर्व स्नेह भी दिया। पितृ-गृह के समान ही सुंदर ससुराल भी दी, और दी—उसके अनुरूप ही पतिदेव-रूपी सर्वश्रेष्ठ वह विभूति—जिसे पाकर अब उसे कुछ भी न चाहिए था। पर काश, इन सब वस्तुओं के साथ-साथ कहीं भाग्य की देन भी पायी होती—जिसके विना यह सारा

स्वर्ण-संसार उसके लिए मिट्टी के ढेर के सिवा और कुछ भी न था।

पति-वियोग-रूपी भयानक अग्नि की प्रचंड ज्वाला ने सुंदरी को इतना अधिक जलाया कि उसके जीवन की तमाम विलासिता, समस्त चंचलता एवं स्वार्थ उसी में भस्मसात् हो गये। मानो उसके जीवन की गति ही बदल गयी हो। सांसारिक माया-जाल के स्थान में शुद्ध, विमल और पवित्र विरक्ति की मंदाकिनी हृदय में हिलोरें लेने लगी। अब संसार में उसके लिए केवल दो ही कार्य थे—पतिदेव का सुमधुर चिंतन तथा पर-हित-व्रत-साधन। गंभीर नीरव रजनी के एक ऐसे समय में, जब कि रमणी-हृदय की सारी वृत्तियाँ केवल प्रियतम के मधुर सहवास की ओर ही आकर्षित होती हैं, सुंदरी अपने एकांत कमरे में सारी स्थिरता, सारी गंभीरता और सारी एकाग्रचित्तता से अपने पतिदेव का फोटो सामने रखकर उनकी समाधि में लीन हो जाती।

पर सास की आँखों में सुंदरी का वह सारा त्याग और संन्यास व्यर्थाडंबर के सिवा और कुछ भी न जँचता। वह अकारण ही सुंदरी के प्रति बात-बात में तीव्र व्यंग्य एवं कटाक्षों की बौछार किया करतीं। किंतु, सहनशीला सुंदरी सास के उन सब अत्याचारों को अत्यंत धैर्यपूर्वक सहन करती जाती थी।

वैधव्य दुःख के बाद ही ससुराल में उसके थोड़े-से दिन किस प्रकार कटे, यह बतलाने की क्या आवश्यकता? नौकर-चाकरों के मौजूद रहते हुए भी दिन-रात शारीरिक श्रम की चक्की में पिसते रहना, खाने को रूखे-सूखे टुकड़े, पहनने को फटे-पुराने वस्त्र और सुनने को सास की गालियाँ—यही उसकी दिनचर्या थी।

× × ×

जन्म से ही पुष्पों की सुकोमल शय्या पर सोने वाली सर्वगुण-संपन्न बिटिया सुंदरी के निराश और विषादमय जीवन की कल्पना से ही दुबेजी का शरीर सैकड़ों वृश्चिक-दंशन की पीड़ा से क्षतविक्षत हो गया। आह! उन्हें क्या मालूम था कि उनके सुरभित उद्यान की वह अधखिली कली निष्ठुर काल की निर्दयता से यों असमय ही तोड़कर मसल दी जायगी!

बचपन से ही सुख के अंचल में पली होने के कारण सुंदरी को कभी काम के नाम पर एक तिनका भी छूने का अवसर न पड़ा था। घर में नौकर-चाकर सभी मौजूद रहते। ऐसी दशा में यह कब संभव था कि दुबेजी अपनी आँखों की पुतली सुंदरी को उस शारीरिक कष्टमय जीवन में अब वहाँ क्षण-भर को भी अधिक रहने देते। उन्होंने तुरन्त ही उसे अपने पास बुला लिया। ससुरालवाले तो यह चाहते ही थे, उनके लिए

तो सुंदरी अमंगल की पिटारी थी। अतएव दुबेजी की यह 'प्रार्थना' उनके लिए मुँहमाँगी मुराद थी।

मोह का बंधन विचित्र होता है। एक बात जो किसी मनुष्य के लिए बड़े ही सुख और सौभाग्य की सिद्ध होती है, दूसरे के लिए एक महान् दुःख और दुर्भाग्य के कारण से तनिक भी कम नहीं। वही दशा सुंदरी के घर में आने से बसंती की हुई। दुबेजी का सुंदरी के प्रति मोह का आकर्षण सुंदरी की ससुराल-वालों के लिए भले ही अत्यंत हर्ष का कारण सिद्ध हुआ हो, किंतु मायके में उसकी विमाता बसंती के लिए वही इतना दुःखद हुआ, जिसकी उसने कभी स्वप्न में भी कल्पना न की थी।

वह सुंदरी, जो उसकी आँखों में काँटे की तरह खटकती थी, जिसके प्रति पति का स्नेह तोड़ने के लिए उसने कितनी ही बार चेष्टा की, पर कभी सफल न हुई। जिसे घर से शीघ्र बिदा करने के लिए उसने—अपनी कलुषित भावनाओं से प्रेरित होकर—प्रकट रूप में चिंता का भाव दिखाकर—'विवाह'-'विवाह' की ध्वनि से कन्यादान का पुण्य लूटने के लिए दुबेजी से अत्यंत उतावली दिखाते हुए दिन-रात एक कर दिये थे—वही सुंदरी विधि के विधान से आज पुनः उसी घर में आ गयी थी, और वह भी सदैव के लिए।

सुंदरी के प्रति बसंती के इस निंदनीय व्यवहार का क्या कारण था? सुंदरी का अपराध सिर्फ़ यही था कि वह बसंती से रंग-रूप, विद्या-बुद्धि, रीति-व्यवहार आदि सभी गुणों में बढ़ी-चढ़ी थी। बसंती की दृष्टि में यह अपराध अक्षम्य था। विवाह के पूर्व जब तक वह घर में रही, निरंतर उसके हृदय का काँटा बनी रही। जब वह ससुराल चली गयी, तभी उसका चित्त शांत हुआ। और उसके हृदय में से वह पुरानी फाँस निकल पायी। पर हा हतभाग्य ! आज वही पुराना नासूर शतगुण टीस और जलन के साथ पुनः खुल गया। आज सुंदरी सदैव के लिए उसके गले पड़ गयी थी। ईश्वर इतना अन्यायी है, विधि इतना कठोर !

× × ×

सुंदरी को पितृ-गृह में आये हुए महीना-भर हो गया। भाई-बहन तथा घर के नौकर-चाकर सभी उसके व्यवहार से परम प्रसन्न थे। वह इतनी विनम्र, स्नेह-मयी और उदार-हृदय थी कि जो उससे एक बार मिलता, वह सदैव के लिए उसका भक्त बन जाता था। कठोर शब्द तो उसकी ज़बान पर आता ही नहीं। लेकिन द्वेष की आँखों में गुण और भी भयंकर हो जाता है। सुंदरी के ये सारे सद्‌गुण बसंती के हृदय में अत्यधिक खटकते रहते। उसकी दृष्टि में वह अब

सौतेली नहीं—बल्कि स्वयं सौत के रूप में प्रत्यक्ष सामने खड़ी थी। वह उसे कलंकित करके किसी प्रकार घर से निकालने की घात में लगी रहती।

दुबेजी सुंदरी के प्रति पत्नी के द्वेष-भाव को अच्छी तरह परख चुके थे, अतएव वह उससे अत्यंत सचेत रहते।

एक दिन अवसर पाकर बसंती ने त्रिया-चरित्र फैलाते हुए दुबेजी से कहा—"अजी, देखते नहीं हो अपनी लाड़ली के लच्छन! तुम्हारे बक्स तक नौबत पहुँच चुकी है। अगर इसी प्रकार रहा, तो ईश्वर ही जाने, कौन गत हो। तुम्हारे इस लाड़-प्यार ने तो घर का बिलकुल ही सत्यानाश कर दिया है।"

"क्यों, क्या हुआ?"

"हुआ क्या! वही जो रोज़ हुआ करता है।"

"आख़िर कुछ कहोगी भी, या पहेली ही बुझाती रहोगी?"

"तुम्हारे बक्स का ताला तोड़कर आज तुम्हारी दुलारी ने कई चीज़ें निकाल लीं। जब मैं कमरे में गयी तो झट से उन्हें आँचल में छिपा लिया। एक चित्र भी हाथ में था। छिः-छिः! किसी विधवा को इस प्रकार एकांत में किसी पर-पुरुष का चित्र देखना क्या कहीं सुहाता है! जब देखो, गंदी-गंदी पुस्तकें पढ़ने में ही

लगी रहती है। पुस्तकें पढ़-पढ़कर तो पति को चाट आयी, अब न-जाने यहाँ किस पर घात लगाये हुए है।"

पत्नी के इन दुर्वचनों को सुनकर दुबेजी के शरीर में आग-सी लग गयी। उत्तेजित होकर बोले—"तुम क्यों वृथा उस दुखिया के पीछे पड़ी रहती हो? बक्स की चाबी का गुच्छा तो मैंने स्वयं उसे दिया था। उसमें उसकी 'गीता'—जिसे मैं कल बाहर से उसके लिए लाया हूँ, बंद थी। मैंने स्वयं ही सुंदरी से उसे निकाल लेने को कहा था। पति के चित्र को पर-पुरुष का चित्र बतलाते हुए तुम्हारी जिह्वा कुंठित क्यों नहीं हो जाती! ख़बरदार! आयंदा से फिर कभी मुझसे ऐसी निर्मूल शिकायतें करने का दुस्साहस न करना। तुम्हें कई बार समझा चुका, पर तुम अपना स्वभाव नहीं बदलतीं। आख़िर उस बेचारी ने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है?"

बसंती ने जले पर नमक छिड़कते हुए कहा—"घबराओ मत। अभी तो आयी ही है। देखते जाओ, बनाना-बिगाड़ना सब समय पर स्वयं मालूम हो जायगा। बाहर लोगों में तो समाज-सुधार पर बड़े-बड़े लेक्चर झाड़ आते हो, पर अपने घर में वह सब सुधारकपन कहाँ चला जाता है?"

दुबेजी ने उत्सुकता प्रकट करते हुए पूछा—"इससे तुम्हारा तात्पर्य ?..."

"मेरा अभिप्राय सुंदरी के पुनर्विवाह से है।"

"पुनर्विवाह ?"

"हाँ, पुनर्विवाह।"

"पर यदि वह मंज़ूर न करे तब ?"

"वह भला क्यों न मंज़ूर करेगी। ऐसी सच्ची बैरागिन भी तो नहीं है।"

"ऐसी दशा में मैं कब इससे इनकार करता हूँ ? आप-द्धर्म में तो विधवा-विवाह अत्यंत न्याय-संगत और आवश्यकीय है, ऐसा मेरा सदैव मत रहा है, और रहेगा; पर इसका तात्पर्य यह तो नहीं कि किसी पवित्र विधवा का बलपूर्वक पुनर्विवाह करा देने की कुटिल घृणास्पद नीति अख़्तियार की जाय।"

"मैं कब ऐसा कहती हूँ ? पर क्या वह स्वयं तुमसे अपनी इच्छा प्रकट करेगी ? उसके लिए तो—ख़ुद ही उसके मन की थाह लेनी होगी।"

"अच्छा, यदि तुम्हारी यही इच्छा है, तो पूछ देखो।"

× × × ×

अत्यंत सहानुभूति का भाव प्रकट करते हुए, दूसरे ही दिन बसंती ने सुंदरी से पुनः विवाह कर लेने का प्रबल आग्रह किया। इस पर सुंदरी एक गहरी साँस

लेकर आकाश की ओर संकेत करके कहने लगी—"मौसी, प्रकट रूप में वह मुझे छोड़कर चले गये—दूर-सुदूर—मुझसे अत्यंत दूर—उस उज्ज्वल लोक में—पर जब मैं अपने हृदय-मंदिर में उनका चिंतन करती हूँ, तो वे सर्वदा मुझे अपने पास ही दीख पड़ते हैं, और मानो कहते हैं—'सुंदरी! घबराना मत। दुःखित न होना। मेरी आत्मा सर्वदा तुम्हारी रक्षा करेगी। यदि मृत्यु-लोक में नहीं, तो इस देवलोक में—अवश्य ही हमारा पुनः सुखद मिलन होगा। यह वियोग क्षणिक है, तुम्हारा और मेरा वियोग कभी नहीं हो सकता, मौसी, क्या मैं उनके इन शब्दों को भूल जाऊँगी? क्या मैं इस जीवन में उन्हें ऐसा घृणित धोखा दे सकूँगी! नहीं-नहीं! मुझमें ऐसा साहस कदापि नहीं।"

आह! इन शब्दों में कितनी भक्ति-पूर्ण विरक्ति, कितनी सचाई, कितनी दृढ़ता और कितनी पवित्रता भरी हुई थी। पर बसंती का कुलिशसम कठोर हृदय ज़रा भी न पसीजा। उसे उनमें कृत्रिमता ही अधिक जान पड़ी। आँखें मटकाती हुई बोली—"देखो! समय बड़ा बुरा है। लांछन लगते कुछ देर न लगेगी। मनुष्य चाहे कितना ही सम्पत्तिवान् क्यों न हो, लेकिन वह ज़माने का मुँह तो बंद नहीं कर सकता। इस पर अभी तुम्हारी उमर ही क्या है? याद रक्खो, इस अवस्था से त्याग-

मूर्ति बनने का ढोंग रचकर संसार-यात्रा में कदापि सफल न हो सकोगी।"

बसंती के कटुता एवं कटाक्ष से भरे हुए ये शब्द सुंदरी के लिए शब्द न थे, बल्कि विष के ज़हरीले तीर थे, जिनसे सुंदरी का कोमल हृदय क्षत-विक्षत हो गया। यों तो, विमाता के छल-प्रपंच और कटु व्यवहार से वह बचपन से ही ख़ूब परिचित थी, पर चरित्र पर संदेह प्रकट करने का यह पहला ही अवसर था। वह सब कुछ सहन करने को तैयार थी, पर मौसी का चरित्र पर संदेह प्रकट करना उसके लिए सर्वथा असहनीय था। ऐसी दशा में वह स्तब्ध थी, जड़ थी, हृदय-हीन थी। उसे संसार में सिवा मृत्यु के और कुछ भी नहीं दिखलायी पड़ता था। इस समय सुंदरी के चित्त की व्यथा का वर्णन करते हुए लेखनी थाम लेनी पड़ती है। थोड़े शब्दों में—उसकी दशा चतुर चित्रकार द्वारा रचित उस सुंदरीमूर्ति की तरह हो गयी, जो देखने में सर्वांग से परिपूर्ण होते हुए भी जड़वत् हृदयहीन हो। तीव्र आघात के मारे सुंदरी से खड़ी न रहा गया। वह चेतना-शून्य होकर गिर पड़ी।

बसंती यह दशा देखकर अत्यंत घबरा उठी, और काँपती हुई शीघ्रतापूर्वक कमरे से बाहर चली गयी।

× × × ×

कहने को तो उस समय बसंती ने सुंदरी से यह सब कह डाला; पर वास्तव में सुंदरी के उन पवित्र सच्चे उद्गारों ने—विशेषकर उसकी उस करुणाजनक दशा ने—जो उसके कटु वचन सुनने पर, सुंदरी की हुई, उसकी आँखों के ऊपर से वह विद्वेष की ऐनक एकदम उठाकर फेंक दी। अब उसे अपने कृत्य पर अत्यंत खेद हुआ। हृदय विचित्र भावों से आंदोलित होकर पश्चात्ताप से भर गया। रह-रहकर उसकी आत्मा उसे धिक्कारने लगी। आँखों के आगे अँधेरा छा गया। उस अंधकार में से कोई आगे बढ़कर उससे कह रहा था—“कुलटे! तूने अपने स्वार्थ के वश होकर एक निर्दोष पवित्र आत्मा को दुखाया है। जब तक वह अपने सच्चे हृदय से तुझे क्षमा-प्रदान न करे, तब तक तेरे इस पाप का क्या कोई प्रायश्चित्त संभव है? नहीं,—कदापि नहीं।” ये शब्द किसी और के न थे, बल्कि यह स्वयं बसंती की अन्तरात्मा की पुकार थी। उसका मन बार-बार उसे धिक्कारने लगा। वह बेचैन हो उठी। बेचैनी यहाँ तक बढ़ी कि शाम होते-होते उसे बड़े ज़ोरों का बुख़ार चढ़ आया। जिसने दो-तीन दिन के बाद ही भयानक सन्निपात का रूप धारण कर लिया। बेहोशी में वह बराबर यही बड़बड़ाया करती—“हाय!......स्वार्थ ......नीचता......सु......न्द......री......मुझे......क्षमा

कर......मैं नीच हूँ......स्वार्थी हूँ......क्षमा......क्षमा।"

× × × ×

बीमारी में सुंदरी ने जी-जान से बसंती की सेवा-टहल की। और कई रातें जागते-जागते आँखों पर बिता दीं। वह मौसी की चिंता में सोना, खाना, पीना, सभी कुछ भूल गयी। अंत में उसकी सेवा सार्थक हुई, और बसंती बीमारी से उठ खड़ी हुई।

बसंती सुंदरी के इस सेवा-भाव को देखकर चकित रह गयी। अब सुंदरी उसे साक्षात् देवी-सी दीख पड़ती थी। बिना उससे परामर्श किये अब वह कोई भी काम नहीं करती। घर का तमाम कारोबार सुंदरी के इशारे से ही चलता है। सुंदरी अपना आधा समय पूजा-पाठ आदि धार्मिक कृत्यों में लगाती है, और शेष आधा—उसी पर-हित-व्रत-साधन में।

दो सखियाँ

दो सखियाँ

(१)

विवाह के बाद मालती जब मैके आयी, तो सखी-सहेलियों से अपने को घिरी हुई देखकर उसे प्रतीत हुआ, मानो कई साल के विछोह के बाद वह उनसे मिल रही हो। सभी निर्निमेष दृष्टि से एकटक उसे देखती हुई हास-परिहास करने में व्यस्त थीं।

एक बोली—बहन, सच-सच बतलाना दूल्हा भाई पसंद आये या नहीं?

इस पर दूसरी ने कहा—वाह, यह पसंद की एक ही कही! तुम्हें क्या मालूम कि वर-वधू के प्रेम की खीर पकते-पकते न-जाने कब से गाढ़ी हो रही थी।

तीसरी ने दूसरी का समर्थन करते हुए कहा—और नहीं तो क्या? अरे, मन न मिला होता तो क्या
जाते समय भी इनकी आँखें गीली न होतीं।

पहली—हाँ भई, यह तो तुमने ठीक
पहले-पहल मायका छोड़ते समय
झड़ी की भाँति बरसती हु
ऐसी फूट-फूटकर रोयं

बेहोश न हो गयी होती, तो शायद जाने का नाम तक न लेती।

तीसरी—अरे, तब की तो बात ही जाने दो। मैं तो अब भी ससुराल जाते समय रूमाल से आँखें पोंछती-पोंछती थक जाती हूँ।

एक षोड़शवर्षीय सुकुमारी--जो अब तक चुप थी--तीसरी को संबोधन करती हुई तत्परता से बोल उठी—बुरा न मानना बहन, तो ऐसा करके तुम कौन-सा जग जीत लेती हो? यह तो निरा ढोंग है।

"ढोंग!"--तीसरी ने आश्चर्य से उमा को देखते हुए कहा।

उमा--हाँ, प्रत्यक्ष पर कृत्रिमता का आवरण चढ़ाना यदि ढोंग नहीं तो और क्या है?

पहली--जब जाने लगोगी, तो मालूम होगा। अभी तो 'बंदर क्या जाने अदरख का सवाद' वाली मसल है।

इस पर सब खिलखिलाकर हँस पड़ीं।

(२)

...निंद्य सुंदरी, सुशिक्षिता, सभ्य और उन्नत ...ली ललना थी। ईश्वर ने उसे जैसा रूप ...े ही गुण भी। लखनऊ के डिस्ट्रिक्ट ...लाल की लाड़िली होकर भी ...था। अमीर तथा ग़रीब

बीड़ा थामते हुए बोले--क्यों, नौकर कहाँ चला गया? जो तुम विना भोजन किये हुए पान देने चली आयीं।

"मुझे आज भोजन करना नहीं है।"

"क्यों, क्या बात है?"

"आज व्रत रक्खूँगी।"

"काहे का?"

"ऐसे ही"।--निर्मल बाबू ने देखा, मालती की आँखें सजल थीं। बोले--"तुम मुझसे छिपाती हो।"

मालती कुछ कहने ही को थी कि इतने में सास ने आकर कहा--बहू! खाने को चल, भोजन ठंडा हो रहा है--मालती लजाती हुई कमरे से बाहर चली गयी।

बहू के चले जाने के बाद अम्मा ने दुःखित होकर निर्मल बाबू से कहा--नन्हें, बहू की गोद भरने की तो अब कोई आशा नहीं दीखती। क्या करूँ, कुछ भी नहीं समझ पाती। अब लाचार होकर तुम्हारा दूसरा विवाह करना ही पड़ेगा। आह! कौन जानता था कि यह शरीर-रूपी सुकोमल वृक्ष गुणरूपी सैकड़ों पुष्पों से लदा होने पर भी संतानरूपी फल से इस प्रकार वंचित रहेगा! मेरे ऐसे भाग कहाँ, जो पोते का मुँह देख सकूँ?--यह कहते हुए उनकी आँखों में आँसू भर आये।

निर्मल बाबू ने टालते हुए कहा--अम्मा, जो चीज़ भाग्य में नहीं, फिर उसके लिए व्यर्थ प्रयत्न........

अम्मा ने बात काटते हुए कहा--बेटा, अगर भाग के भरोसे ही सब बैठ जायँ, तो फिर दुनिया का यह सब काम-काज ही बंद न हो जाय ! तुम्हारे बाबूजी भी अब अधिक प्रतीक्षा करने को तैयार नहीं होते । अतएव तुम्हें उनकी आज्ञा-पालन का भी तो ध्यान रखना चाहिए ।

निर्मल--उनकी तथा आपकी आज्ञा का पालन करना तो मेरा धर्म है । पर इस आज्ञा के पालन करने में धर्म के साथ ही जो पातक है, उससे मैं अपने को कैसे बचा सकूँगा ?

"पातक !"--अम्मा ने आश्चर्य से उन्हें देखते हुए पूछा।

"हाँ, पत्नी के जीवित रहते हुए पुनर्विवाह करना साधारण ही नहीं, बल्कि महान् पातक है ।"

अम्मा ने गंभीरतापूर्वक कहा--देखो बेटा, विवाह का मुख्य उद्देश्य संतानोत्पत्ति है, न कि और कुछ । उसके मौजूद रहने पर तो ऐसा करना अवश्य ही बहुत बड़ा पाप है । पर इसके विपरीत परिस्थिति में वह किसी प्रकार भी पातक नहीं कहा जा सकता। यह कोई नयी बात भी तो नहीं, ऐसा तो प्रायः हुआ ही करता है ।

निर्मल--अम्मा, होने की न कहो । होने को तो यह क्या, इससे भी जघन्य कार्य प्रायः होते रहते हैं । पर क्या उनको आदर्श के रूप में सामने रखना उचित है ?

"नन्हें, तू तो वकील ठहरा । मैं तुमसे बहस में जीत

थोड़े पाऊँगी ? पर तुम्हें यह कदापि न भूलना चाहिए कि हमारी तमाम आशाओं के केंद्र केवल तुम्हीं हो।"

(४)

मा के चले जाने के बाद निर्मल बाबू बड़े सोच में पड़ गये। इधर कई दिनों से वह इस बात को टालते चले आ रहे थे, पर आज अम्मा के मुँह से पिताजी के अब अधिक प्रतीक्षा न करने की बात सुनकर वह बड़ी चिंता में पड़ गये। क्योंकि वह जानते थे कि पिताजी जो एक बार कह देते हैं, उसे फिर पूरा किये विना किसी तरह नहीं मानते। बहुत सोचने पर भी उन्हें कोई कर्तव्य नहीं सूझता था। एक ओर माता-पिता की आज्ञा थी, दूसरी ओर पत्नी का प्रेम। दोनों बातें अत्यंत महत्त्व-पूर्ण थीं। किसे छोड़ें, और किसे अपनावें ? यदि माता-पिता की आज्ञा का उल्लंघन करते हैं, तो धर्मसंकट मुँह बाये सामने खड़ा है, और यदि पत्नी के प्रेम की उपेक्षा करते हैं, तो भविष्य-जीवन अंधकारमय दीखता है। क्या, मालती सौत के साथ में सुखी रह सकती है ? नहीं, कोई भी स्त्री सौत के गर्वित मुँह को देखना पसंद नहीं करती। फिर मालती तो पढ़ी-लिखी और सर्वगुण-संपन्न रमणी है। वह सौत के दुर्व्यवहार को भला कैसे सहन कर सकेगी ? हम दोनों का पारस्परिक स्नेह भी तब क्या इसी भाँति स्थायी और अचल रह सकेगा ?

गृहस्थी के इस स्वच्छाकाश में उसके पदार्पण से क्या घनघोर काली घटाएँ न छा जायँगी! इसी प्रकार की अनेकानेक भविष्य-कल्पनाएँ आ-आकर उनके दिमाग़ में चक्कर काटने लगीं। वह विचलित हो उठे। मन बहलाने के लिए मेज़ पर से एक पुस्तक उठा ली, और उसे पढ़ने का उपक्रम करने लगे। किंतु, उसमें भी मन न लगा और पुस्तक नीचे पटक कर फिर निद्रादेवी का आवाहन करने लग गये।

बड़ी देर तक निद्रा और जागरण के झूले में झूलते रहने के बाद अंत में निद्रादेवी को भी उन पर दया आ गयी, और उसने उन्हें अपनी गोद में आश्रय दे दिया। लेकिन ऐसी दशा में भी उन्हें शांति न मिल सकी। वही जाग्रतावस्था के विचार एक-एक करके स्वप्नरूप में वहाँ भी उन्हें पीड़ा पहुँचाने लगे। अचानक उनका सारा शरीर काँप उठा, और झट से आँखें खुल पड़ीं। देखा—मालती पास बैठी हुई पंखा झल रही है। बोले—प्रिये! आओ, मेरे पास चली आओ। न-मालूम क्यों मुझे कुछ भय-सा मालूम पड़ रहा है।

"शायद आपने कोई बुरा स्वप्न देखा है?"

"हाँ, बड़ा बुरा स्वप्न था। उफ़्! उसे स्वप्न भी मानने को जी नहीं चाहता।"

"क्यों, क्या बात थी? मैं भी सुनूँ।"

"आह ! कहने की इच्छा नहीं होती।"

"आखिर फिर भी...... ?"

"उफ़् ! कोई कुलटा मेरे प्रेम-साम्राज्य से तुम्हें निर्वासित करने की धमकी देकर स्वयं अपना......

मालती ने सतृष्ण नेत्रों से पति को देखते हुए कहा—नाथ ! आप इतने चिंतित न होइए। पुरुष होकर ऐसा हलका जी रखना उचित नहीं। अभी आपके सामने एक विशाल पथ है। यदि ऐसा ही हृदय रक्खोगे, तो कैसे काम चलेगा ?

"प्रिये ! क्या करूँ, बुद्धि कुछ भी काम नहीं देती। मेरी दशा तो उस पथिक की-सी हो गयी है, जिसके एक ओर तो खाई हो, तथा दूसरी ओर चट्टान। जिधर से जाओ गिरो।"

"प्राणनाथ ! मैं अभागी हूँ, मुझे भूल जाइए और अपने कर्तव्य का पालन कीजिए।"

"प्रिये ! सोचो तो, यह तुम क्या कह रही हो ?"

"प्रियतम ! मैं सोच-समझकर ही आपसे प्रार्थना कर रही हूँ।"

"क्या ?"

"यही कि आप निःसंकोच पुनर्विवाह कर लें।"

"जानती हो, इसका परिणाम ?"

"ईश्वर ने चाहा तो अच्छा ही होगा। सब लोगों के

दुःख की मैं ही एक कारण हूँ। उस जन्म तपस्या में चूक आयी थी, जो इस जन्म में अभागी कहलायी। और यदि इस जन्म में भी अपने कारण सबको चिंतित रख-कर कष्ट पहुँचाऊँगी, तो फिर आगे गति नहीं।"

"प्रिये! तुम क्यों अपने को बार-बार अभागी कहकर मुझे दुःख पहुँचा रही हो? मेरे लिए तो तुम्हारे समान सुभागी स्त्री संसार में दूसरी है ही नहीं। ऐसी आदर्श रमणियाँ बार-बार नहीं प्राप्त होतीं, तब फिर तुम यह कैसे कहती हो कि परिणाम अच्छा ही होगा। अपने इस एकछत्र अधिकार में हिस्सा बँटते देखकर तुम्हें क्या कुछ भी कष्ट न होगा?"

"होगा, अवश्य होगा। वह तो स्वाभाविक ही है। पर उसके बाद सब लोगों को वंशवृद्धि की चिंता से मुक्त देखकर मुझे जो सुख प्राप्त होगा, वह उसकी अपेक्षा कहीं अधिक मूल्यवान् होगा।"

निर्मल बाबू पत्नी के उदार-हृदय से निकले हुए आदर्श विचारों की मन-ही-मन प्रशंसापूर्ण आलोचना करने लगे।

(५)

बाबू दिनेशचंद्र ने निर्मल बाबू का पुनर्विवाह करना तय कर लिया। पत्रों में विज्ञापन दे दिया गया। निर्मल बाबू मन मसोसकर रह गये। करते ही क्या? पिता के सामने ज़बान खोलना उन्होंने उचित न

समझा। ऊपर से माता तथा पत्नी दोनों ने उन पर बेतरह दबाव डाला। लाचार होकर अंत में उन्हें चुप ही रहना पड़ा।

× × ×

ज्येष्ठ का महीना था, दोपहर का समय। अरुण भगवान् अपनी तीक्ष्ण और प्रखर रश्मियों द्वारा अनल की अथाह वर्षा कर रहे थे। लू की भीषण लपटों से वृक्षों के पत्ते तक झुलस-झुलसकर राख हो रहे थे। एक क्षण के लिए भी किसी प्राणी को घर से बाहर निकलने का साहस न होता था। आफ़त का मारा जो कोई बाहर निकलता भी, वह तुरंत ही लू का शिकार होकर अचेत हो जाता था।

लखनऊ के गोमती तट पर उमा के पिता डिस्ट्रिक्ट जज रायबहादुर मिस्टर निरंजनलाल की विशाल कोठी खड़ी थी। कोठी के बीच की मंजिल के एक आलीशान सजे हुए कमरे में एक कौच पर बैठी हुई उमा कुछ सोच-विचार में निमग्न-सी जान पड़ती थी। कमरा चारों तरफ़ से ख़स की टट्टियों से घिरा हुआ था। छत की कड़ी पर लगा हुआ बिजली का पंखा अपनी तीव्र गति से चल रहा था। 'सर्वे गुणाः कांचनमाश्रयन्ति' के अनुसार चाहे कृत्रिम ही क्यों न हो, कमरा ख़ासा पहाड़ का आनंद दे रहा था। किंतु, उमा को यह सब कुछ भी

अच्छा न लगता था। वह अत्यंत चिंतित थी। उसकी आँखों के सामने एक पत्र खुला पड़ा था। जिसे वह बड़ी करुण दृष्टि से देखती हुई सहानुभूतिपूर्वक बार-बार पढ़ रही थी। पत्र इस प्रकार था—

"बरेली

१५ मई—

परम प्यारी बहन, हृदयमिलन।

तुम्हारे एम्० ए० की परीक्षा में सफल होने का समाचार जानकर कितनी खुशी हुई, नहीं कह सकती। यह जानकर और भी अधिक प्रसन्नता हुई कि तुम अब शीघ्र ही गृहस्थ-जीवन में प्रवेश करने जा रही हो। ईश्वर तुम्हें मनोनुकूल पति दे और वैवाहिक जीवन सब प्रकार सुखी हो, यही एकांत मंगलकामना है। बहन, तुम लिखती हो कि 'तुम्हारे प्रेम की यह चातकी अत्यंत तृषित है, शीघ्र ही पत्र-रूपी स्नेह-वारि से इसकी तृषा बुझाओ।' किंतु बहन, मेरे ऐसे भाग्य कहाँ, जो किसी मंगल-समाचार से तुम्हें हर्ष पहुँचा सकूँ। खास कर आज मैं अपनी करुण-कहानी का जो परिच्छेद यहाँ पर लिखने बैठी हूँ, मुझे भय है कि उसे पढ़कर तुम कदाचित् निराश न हो जाओ। किंतु, फिर भी यह सब तुम्हें लिख रही हूँ। क्योंकि भयंकर तूफ़ान और भँवरों से भरे हुए इस संसार-सागर में बहती हुई मेरी जीवन-नौका को पार

लगाने के लिए तुम्हारे सिवा और दूसरा कोई भी नाविक नहीं।

बहन, पतिदेव के दूसरे विवाह की बात पक्की हो गयी। जब देखा कि सास तथा ससुरजी वंशवृद्धि की चिंता से दिन-रात घुलते जा रहे हैं, तो मैंने ही उन्हें ऐसा करने के लिए विवश किया। उनकी कदापि यह इच्छा न थी। अब नववधू शीघ्र ही गृह में प्रवेश करेगी, और देखते-देखते मेरे जीवनधन को मुझसे छीन लेगी। यद्यपि उनका मुझ पर जो अकपट स्नेह है, उससे यह भय कदापि नहीं कि वह मुझे अपने प्रेम-साम्राज्य से निर्वासित कर देंगे। पर बहन, परिस्थिति-वश उनके और मेरे बीच में सौतरूपी दीवार के खड़ी हो जाने से जो अंतर पड़ जायगा, वह क्या मेरे लिए सह्य होगा? नहीं, मैं उसे सहन न कर सकूँगी। एक म्यान में दो तलवारें कभी नहीं रह सकतीं। आह! दो अक्षर के इस 'सौत' शब्द में कितना जादू भरा है। स्मरण-मात्र से ही शरीर काँप उठता है। क्या करूँ, कुछ भी नहीं समझ पाती। सोचती हूँ, यह सब होने के पहले ही यदि इस जीवन का अंत हो जाय, तो अच्छा। पर वह अपने वश की बात नहीं। चिंता तथा नैराश्य के समुद्र में डूबती-उतराती हुई मेरी यह जीवन-तरणी क्या कभी तट पर लग

सकेगी, जब कि चारों ओर अँधेरा ही अँधेरा छा रहा है। इस घोर अंधकार में बहन, तुम्हीं केवल मेरी प्रकाश और आशा की एक-मात्र ज्योति हो। अतएव आशा करती हूँ कि तुम इस अवसर पर अपनी स्नेहपूर्ण सहानुभूति द्वारा मेरे उर की इस जलन में शीतलता के छींटे डालकर मुझे कुछ शांति-प्रदान करोगी। साथ ही अपने उचित परामर्श से मुझे अपना कर्तव्य सुझाओगी।

तुम्हारी अभिन्न--मालती।"

(६)

निर्मल बाबू पर लक्ष्मी तथा सरस्वती की विशेष कृपा तो थी ही, अतएव विवाह होते देर न लगी। विवाह-कार्य निर्विघ्न संपन्न हुआ। मालती इस अवसर पर ससुराल में ही अपनी मौसी के यहाँ चली गई। अपनी अतुल संपत्ति को अपनी आँखों के सामने ही लुटते देखने का उसे साहस न हुआ।

विवाह के उपरांत उसे शीघ्र ही नववधू का पत्र मिला, जो इस प्रकार था—

"आदरणीया बहनजी! सादर नमस्ते।

आपकी इस छोटी बहन को इस अवसर पर आपको यहाँ न देखकर जो निराशा हुई, वह अकथनीय है। क्योंकि इस नये घर में आपके अतिरिक्त मेरे लिए इस

समय ऐसा कोई भी नहीं, जिससे दो-चार बातें करके मैं किसी तरह अपना जी बहला सकूँ। बहन, मैं जानती हूँ कि मेरे कारण ही आपको यहाँ से टलने के लिए बाध्य होना पड़ा है। इस स्वार्थी संसार की अतीतकाल की अतिशयोक्ति-वश आपके हृदय में ऐसी भावना का जड़ पकड़ना स्वाभाविक ही है। किंतु बहन, मैं आपको विश्वास दिलाती हूँ कि मेरे हृदय में आपके प्रति अत्यंत श्रद्धा तथा अकपट स्नेह है। काश, अपने इस हृदय को आपको दिखा सकने में मैं समर्थ होती! बहन, हम दोनों एक ही आराध्यदेव की सेविका तथा भिन्न-भिन्न मार्गों से बहकर आनेवाली ऐसी "दो सरिताएँ हैं, जो अंत में एक ही सागर में समाकर आपस में एक हो जाती हैं। फिर यह भेद-भाव कैसा? अधिक लिखने की क्या आवश्यकता? आशा है, अब शीघ्र ही पधार कर दर्शन देने की कृपा करेंगी।

दर्शनाभिलाषी--
आपकी ही एक छोटी बहन।"

× × ×

पत्र पढ़कर मालती को ऐसा मालूम हुआ, मानो वह अथाह जलराशि से निकलकर किनारे आ लगी हो। वह अब एक क्षण भी अधिक वहाँ न ठहर सकी।

मालती जब घर पहुँची, तो नववधू उससे लिपट-लिपट कर खूब हँसी। ऊपर स्वच्छ आकाश पर चंद्रदेव खिलखिला कर हँस रहे थे, और नीचे धरित्री पर—उनसे होड़ करती हुई--वह दो सखियाँ। जिनमें से एक तो मालती थी ही, और दूसरी थी—उसकी परम प्रिय बाल्यसखी—वही उमा।

प्रेम-प्रभाव

प्रेम-प्रभाव

(१)

सायंकाल के ६ बज चुके थे। लखनऊ-जंकशन का पहले नंबर का प्लेटफ़ार्म यात्रियों की भीड़ से खचाखच भरा हुआ था। खोमचेवालों की चिल्लाहट के मारे पास बैठे हुए मनुष्य का बोल तक सुनाई देना मुश्किल हो रहा था। यद्यपि सूर्यदेव अस्ताचल को प्रस्थान करने की तैयारी कर चुके थे, किंतु अभी गर्मी किसी क़दर कम न मालूम पड़ती थी। मारे गर्मी के सबके शरीर पसीने से तर-बतर हो रहे थे। अधिकांश यात्री जो ग्रीष्मावकाश में पहाड़ पर जा रहे थे, गाड़ी की प्रतीक्षा में उसी प्रकार उत्सुक जान पड़ते थे, जैसे मुद्दत का बंदी अपने जेल-मुक्त होने के लिए। पर्वत के शीतल जलवायु की कल्पना में उन्हें एक-एक क्षण का विलंब असह्य प्रतीत हो रहा था। किंतु, सभी लोगों की मानसिक दशा ऐसी ही हो, यह बात न थी। कुछ ऐसे भी मनुष्य थे, जो अपने प्रिय-परिजनों, मित्रों एवं प्रेमियों के भावी वियोग की आशंका से अत्यंत खिन्नचित्त हो रहे थे।

बुक-स्टाल के पास पड़ी हुई एक बेंच पर एक युवक और एक युवती बैठे हुए आपस में वार्तालाप कर रहे थे। सहसा उनकी दृष्टि सामने बोर्ड पर पोस्टर चिपकाते हुए एक चपरासी पर पड़ी। हठात् युवक ने उसे पास बुलाकर पूछा—"क्यों भाई, उस नोटिस में क्या है ?"

चपरासी ने नम्रतापूर्वक उत्तर देते हुए कहा—"बाबूजी, आज गाड़ी लेट है।"

"सचमुच ? क्यों, कितनी लेट है ? "—युवक ने उत्सुकता प्रकट करते हुए पूछा।

"जी हाँ, पूरे घंटे-भर।"

विनोद का चेहरा हर्ष से खिल उठा। बोले--"भाई, तुम्हारे मुँह में घी-शक्कर। लो, इससे अपना मुँह मीठा करो।"--यह कहते हुए उन्होंने जेब से एक चवन्नी निकालकर उसके हाथ में पकड़ा दी।

चपरासी आश्चर्य से उन्हें देखता हुआ अदब के साथ सलाम करके चला गया।

× × ×

समय के भी पर होते हैं। बातों-ही-बातों में घंटा-भर बीतते देर न लगी, और धड़धड़ाती हुई देहरा-एक्सप्रेस सामने प्लेटफ़ार्म पर आ लगी। यात्रियों में भगदड़ मच गई। विनोद भी कुली से सामान ले चलने को कह कर

कुमुदिनी के साथ-साथ एक इंटरक्लास के कम्पार्टमेंट की ओर बढ़े। किंतु हृदय धड़क रहा था, पैर आगे न पड़ते थे। निष्ठुर विछोह की घड़ियाँ रह-रहकर उनके दिल को बेचैन किये देती थीं। आह ! वह कुमुदिनी,--जिसे वह अपने हृदय-प्रदेश की एक-मात्र सम्राज्ञी समझते थे, जिसके विना उन्हें क्षण-भर को भी कल न पड़ती थी, जिसकी रूप-माधुरी पर वह अपना तन-मन-धन सभी कुछ बलिहार कर चुके थे--आज उनकी आँखों की ओट हो रही थी। कौन जाने, कितने काल तक के लिए—अथवा सदैव के लिए !

गाड़ी ने सीटी दी, विनोद सँभलकर उठ खड़े हुए। आँखें अपनी प्रेम-प्रतिमा के सौंदर्यावलोकन से विलग न होने के लिए हठ कर रही थीं। उधर कुमुदिनी का भी बुरा हाल था। उसका मानस प्रदेश भी एक भीषण हलचल से प्रकंपित हो रहा था। उसने अपने अरुण कपोलों पर ढुलके हुए प्रेमाश्रुओं को रूमाल से पोंछते हुए कहा—"विनोद बाबू ! देखिए.अब की आप अपना वादा भूल न जाइएगा। मैं पहाड़ पर उत्सुकता-पूर्वक आपकी प्रतीक्षा करूँगी।"

"नहीं कुमुद ! ऐसा न होगा। जी तो यह चाहता है कि तुम्हारे साथ ही चला चलूँ। पर तुम जानती ही हो कि मैं ज़रा भी स्वतंत्र नहीं। किंतु, इस बार चाहे जैसे

हो, मैं पिताजी को राज़ी करके अपना वादा पूरा करने का प्रयत्न अवश्य करूँगा।"— यह कहते हुए विनोद ने सतृष्ण नेत्रों से कुमुदिनी से बिदा ली। धुँआधार मचाती हुई गाड़ी यात्रियों को लेकर क्षण-भर में आँखों से ओझल हो गई।

(२)

विनोद और कुमुदिनी लखनऊ-विश्वविद्यालय के एक ही श्रेणी के छात्र थे। दोनों के दिलों पर कालेज में प्रथम दृष्टि-विनिमय के समय ही प्रेम की जो चिनगारी पड़ गई, वह अब सुलगते-सुलगते प्रेमाग्नि की धधकती हुई ज्वाला के रूप में परिणत हो चुकी थी। दोनों पहाड़ के ही रहनेवाले थे, पर एक ही जाति तथा एक ही प्रांत के निवासी होने पर भी उनके बीच में सैकड़ों कोस का अंतर था। विनोद के पिता पं० शिवशंकर त्रिपाठी लखनऊ-मेडिकल कालेज के प्रसिद्ध डाक्टर थे। सरविस के अलावा शहर में भी उनकी अच्छी-ख़ासी प्रैक्टिस चलती थी। उनके पूर्वज पहाड़ छोड़ कर लखनऊ में ही बस गये थे, अतएव अब वह अपने को पर्वतीय कहने तक में संकोच-अनुभव करते थे। कुमुदिनी अपने मामा के साथ नैनीताल में रहती थी। उसके माता-पिता उसे बचपन में ही छोड़कर चल बसे थे। मामी ने ही उसका लालन-पालन किया, और उन्हीं की छत्र-छाया में वह इतनी बड़ी

हुई। उसके मामा पं० दीनानाथजी नैनीताल के एक अच्छे रईस थे। घर में किसी बात की कमी न थी। सुख के सभी साधन उनके गृह में विद्यमान थे। यदि किसी बात की कमी थी, तो यही कि वह निःसंतान थे। इसीलिए उन्होंने कुमुदिनी को उसके चाचा से मँगनी लेकर अपने पास ही रख लिया था, और उसे प्राणों से भी अधिक चाहते थे।

मामा के धन-वैभव-संपन्न गृह में कुमुदिनी हर प्रकार से सुखी थी। इस समय वह बी० ए० में पढ़ रही थी। जब कुमुदिनी मैट्रिक पास हुई थी, तो उसके चाचा पं० देवकीनंदन पांडेजी ने उसका विवाह कर देने की इच्छा प्रकट की। पर कुमुदिनी 'बी० ए० तो पास कर लेने दीजिए' यह कहकर टाल गई। उसके मामा पं० दीनानाथजी भी ऊँचे विचारों के स्त्री-शिक्षा-प्रेमी सज्जन पुरुष थे, इसलिए उन्होंने भी कुमुदिनी के प्रस्ताव का सहर्ष समर्थन किया। अतएव पांडेजी को भी अंत में उनकी बात माननी ही पड़ी। सोचने लगे, आखिर वह दिन भी कभी देखने को मिलेगा ही, जब कि हम कुमुदिनी को बी० ए० पास कराकर किसी योग्य वर के हाथों में सौंपते हुए अपनी आँखें ठंडी करेंगे, तथा अपनी उत्कट अभिलाषा को कार्य-रूप में परिणत देख कर जीवन को सार्थक बनाएँगे।

× × ×

कुमुदिनी बी० ए० की परीक्षा देकर जब घर पहुँची, तो मामा ने बड़े प्रेम से उसका स्वागत किया। दुलार-भरे स्वर में बोले—"क्यों कन्नो, पर्चे तो अच्छे हुए हैं न ?"

"जी हाँ, सफलता की तो पूरी आशा है।"—कुमुदिनी ने नीची दृष्टि किये हुए उत्तर दिया।

"किस डिवीज़न के मिलने की उम्मीद है ? अब तक तो तुम बराबर फ़र्स्ट डिवीज़न में ही आती रही हो।"

"ईश्वर ने चाहा तो सदैव की भाँति इस बार भी वही डिवीज़न मिलेगा। कम-से-कम सेकेंड डिवीज़न तो मिलेगा ही।"

इस पर कुमुदिनी की मामी सरला अपने पति से बोलीं "अब आप मेरी कुमुद के लिए कोई चाँद-सा दूल्हा ढूँढ़ने की फ़िक्र करें। पांडेजी तो कई साल से 'विवाह-विवाह' की रट लगाये हुए हैं। अब इस साल तो विवाह अवश्य ही हो जाना चाहिए। क्यों कुमुद, अब तो तुम्हें भी कोई उज्र करना नहीं है न ?"

कुमुदिनी सिर झुकाये हुए निरुत्तर रही।

पति-पत्नी दोनों ने समझ लिया कि अब उनकी साध पूर्ण होने में कोई बाधा नहीं। अतएव दोनों के हृदय अत्यंत हर्ष और गौरव से पुलकित हो उठे।

(३)

ग्रीष्म ऋतु की नैनीताल की सुहावनी संध्या थी। शीतल समीर अपनी मंद-मंद गति से प्रवाहित हो रहा था। वाटिका के पुष्पों की भीनी-भीनी सुगंध चारों ओर फैल रही थी। पं० दीनानाथजी अपने सुमनोद्यान में टहलते हुए माली से पुष्पों के संबंध में कुछ बातचीत कर रहे थे। सहसा हाथ में एक छोटा-सा हैंडबेग लिये हुए एक व्यक्ति ने उनके पास पहुँचकर, शिष्टता-पूर्वक उन्हें अभिवादन करते हुए नम्रतापूर्वक पूछा—"श्रीमान्‌जी, पं० दीनानाथजी का बँगला यही है न ?"

"हाँ। कहिए, क्या आज्ञा है ?"

"क्षमा कीजिएगा, शायद आप ही पं०..........."
—आगंतुक ने सकुचाते हुए पूछा।

"जी हाँ, मुझे ही इस नाम से पुकारते हैं।"

"मैं आपको कुछ कष्ट देना चाहता हूँ, यदि......"

"हाँ-हाँ, निःसंकोच कहिए। अगर मैं आपकी कुछ सहायता कर सका तो बड़े सौभाग्य की बात होगी।"

विनोद ने अपनी जेब से पिताजी का वह पत्र, जिसमें उन्होंने दीनानाथजी से उनके ठहरने आदि की सुव्यवस्था कर देने के लिए अनुरोध किया था, निकालकर उनके हाथ में दे दिया।

दीनानाथजी पत्र पढ़कर बड़े हर्षित हुए। बोले—"आपका सामान वग़ैरह ...... ?"

"जी हाँ, असबाब मोटर-स्टेशन पर ही छोड़ आया हूँ। मैंने सोचा, पहले चलकर आपके दर्शन करके किसी अच्छे होटल आदि का पता......"

दीनानाथजी बात काटते हुए बोले—"होटल ? यह आप क्या कह रहे हैं ? हमारे यहाँ रहते हुए आपको होटल की फ़िक्र करना उचित नहीं। अच्छा, आप बैठिए। मैं नौकर को भेजकर असबाब मँगवाये लेता हूँ।"

विनोद ने कृतज्ञता प्रकट करते हुए कहा—" इस कृपा के लिए धन्यवाद। किंतु, मैं आप लोगों को व्यर्थ कष्ट देना उचित नहीं समझता।"

इसमें कष्ट की बात ही क्या है ? यह तो आपका घर है। अहोभाग्य ! जो आपके दर्शन हुए। हाँ, आपकी सेवा में अनेक त्रुटियों का हो जाना संभव है। आशा है, उसके लिए आप हमें क्षमा करेंगे।"

"कृपा के लिए कृतज्ञ हूँ। पर यह सब कहना तो मुझे उचित है, आपको नहीं।"

दीनानाथजी ने वार्तालाप का विषय बदलते हुए कहा—"अच्छा विनोद बाबू, अभी तो आप लखनऊ में शायद पढ़ ही रहे होंगे ?"

"जी हाँ।"

"हमारी कुमुद ने भी इस साल बी० ए० की परीक्षा दी है। वह भी लखनऊ में ही पढ़ती है। शायद आप उसे जानते हों?"

"जी हाँ, हम दोनों तो एक ही क्लास के छात्र हैं।"

"तब तो कुमुद आपसे मिलकर बहुत ही प्रसन्न होगी। अच्छा, चलिए घर चलें।"—यह कहकर दोनों व्यक्ति भीतर चले गये।

(४)

विनोद को नैनीताल में आये हुए महीना-भर हो गया। अपनी विनम्र प्रकृति एवं शिष्ट व्यवहार के कारण इस थोड़े-से समय में ही वह सबके अत्यंत स्नेह-भाजन हो गये। दीनानाथजी तो उन्हें पुत्रवत् समझने लगे। उनकी पत्नी सरला भी विनोद के रूप एवं गुणों के अपूर्व संयोग पर अत्यंत मुग्ध हो गयीं। कुमुदिनी के हर्ष का तो कहना ही क्या? उसे तो विनोद के आ जाने से कल्पनातीत सुख प्राप्त हो रहा था।

इधर विनोद की खुशी का भी ठिकाना न था। उन्हें भी, मानो इस मृत्युलोक में ही साक्षात् स्वर्ग-सुख का अनुभव हो रहा था। जिस कुमुदिनी की रूप-सुधा का पान करने के लिए उन्हें लखनऊ में नितप्रति अनेकानेक बहाने ढूँढ़ने पड़ते थे, वह शुभ अवसर यहाँ अनायास ही प्राप्त हो गया।

× × ×

विनोद और कुमुदिनी दोनों बी० ए० पास हो गये। इस शुभ-समाचार को जानकर दीनानाथजी के हर्ष की सीमा न रही। सारे घर-भर में आनंद के बाजे बजने लगे। परिजनों में सभी के चेहरे एक अलौकिक हर्ष से चमक उठे। कई रोज़ तक आनंदोत्सव मनाया गया।

शुभ अवसर जानकर सरला ने पति से आज पुनः कुमुद के विवाह की बात छेड़ी। बोलीं—"पांडेजी को तो कुमुद के पास होने का समाचार भेज दिया है न ?"

"हाँ, तार द्वारा सूचना दे दी है।"

"उनका तो आज पत्र भी आया था। क्यों, क्या लिखा है ?"

"वही कुमुद के विवाह-संबंधी बातें ही लिखी हैं।"

"क्या, कहीं ठीक कर लिया ?"

"नहीं तो, लिखा है कि कई जगह चर्चा चल रही है, पर अभी कहीं भी निश्चय नहीं हो सका।"

"तो आप ही कहीं क्यों ठीक नहीं कर लेते ?"

"मैं भी तो प्रयत्न में ही लगा हूँ। ब्याह-शादी कोई हँसी-खेल थोड़े ही है, जो झट से ठीक कर ली जाय। कोई हमारे पसंद नहीं आता, तो किसी के पसंद हम नहीं आते। कहीं घर है तो वर अच्छा नहीं, और कहीं वर है तो घर अच्छा नहीं मिलता। ऐसी ही अनेकानेक झंझटें आ खड़ी होती हैं।"

"घर-वर तो यह सब फालतू बातें हैं। हाँ, वर अवश्य ही अच्छा होना चाहिए। वह यदि योग्य हुआ, तो फिर सभी बातें हो ही जाती हैं। मेरी राय मानो, तो एक बात कहूँ।"

"हाँ, कहो न, क्या बात है?"

"मेरे मन में तो कुमुद के लिए एक बहुत ही सुंदर और योग्य वर बसा हुआ है।"

"कौन?"

"यही विनोद बाबू।"

"हाँ, तुम्हारा कहना उचित ही है। इच्छा तो मेरी भी यही है। विनोद सर्वथा कुमुद के उपयुक्त हैं। इनसे अच्छा लड़का मिलना यदि असंभव नहीं, तो कठिन अवश्य है।"

"तो फिर बातचीत चलाइए न? सिर्फ़ इच्छा ही होने से थोड़े काम चलेगा?"

"अच्छा, डाक्टर साहब को आज ही पत्र लिखता हूँ।"

"उनसे तो शायद आपकी जान-पहचान भी है?"

"हाँ, बहुत साधारण। पिछली बार जब लखनऊ गया था, तभी उनसे पहले-पहल मुलाक़ात हुई थी।"

(५)

उसी दिन की डाक से रवाना करने के लिए दीनानाथजी ने डाक्टर साहब को पत्र लिखा,

जिसमें बड़े विनीत शब्दों में विनोद से कुमुदिनी का विवाह करने की इच्छा प्रकट की गयी थी।

किंतु खेद! वह पत्र भेजने के पहले ही उन्हें डाक्टर साहब का एक तार मिला, जो उनके मार्फ़त विनोद को भेजा गया था। लिखा था—"तुम्हारे विवाह की तिथि निश्चित हो चुकी है। इस सप्ताह के भीतर ही तुम्हें यहाँ पहुँच जाना चाहिए।"

डाक्टर साहब के इस तार से दीनानाथजी की आशा-लता पर मानो तुषार पड़ गया। कुमुद और विनोद में अत्यंत साम्य-भाव तथा एक-दूसरे में आंतरिक स्नेह का आकर्षण देखकर न-मालूम क्यों उन्हें कुछ विश्वास-सा हो चला था कि इस जोड़ी का स्नेहबंधन अवश्य ही चिर-स्थापित हो जायगा। इसीलिए जब से उन्होंने विनोद को देखा, तभी से वह कुछ निश्चिंत-से रहने लगे थे। पर आज वह सब कल्पनाएँ मानो एक साथ तिरोहित हो गयीं। सरला को भी यह जानकर गहरा धक्का लगा। उनकी भी सभी आशाएँ एकदम निराशा में परिणत हो गयीं। विनोद और कुमुदिनी के दिल तो इस समाचार से बिलकुल ही चूर-चूर हो गये। जिस क्षणिक वियोग की आशंका से ही दोनों अत्यंत विकल हो जाते थे, वही विरह-वह्नि अब सदैव के लिए दोनों को मानो जीते-जी भस्म कर देने के लिए सामने प्रज्वलित थी।

(६)

जब से विनोद ने अपना विवाह किसी अन्य अपरिचित से पक्का हो जाने की बात सुनी, तभी से उनका दिल बैठ गया। चित्त में महान् उद्वेग तथा उदासी छा गयी। मानस-प्रदेश में एक भीषण उथल-पुथल का संग्राम जारी हो गया। ख़ास कर जिस घर में सब लोगों की आशा केवल उन्हीं पर अवलंबित हो रही हो, उन्हीं के बीच में रहते हुए अपने सम्मुख ही इस आकस्मिक घटना के घटित हो जाने से उनकी दशा और भी करुणाजनक हो गयी।

आह! कुमुद को वह कैसे अपने आभ्यंतर का रहस्य समझावें? जिस कुमुदिनी से वह घंटों प्रेमालाप करते हुए भी न अघाते थे, तथा जिसके साथ बातें करने में उन्हें सदैव एक अनिर्वचनीय आनंद की प्राप्ति होती थी, उसी कुमुद के सामने जाने तथा उससे अब एक शब्द तक बोलने का उन्हें साहस न होता था।

× × ×

"तुम्हारे विवाह की तिथि निश्चित हो चुकी है"—ये शब्द बार-बार उनके मस्तिष्क में चक्कर काटने लगे। हृदय आंतरिक क्षोभ और ग्लानि से भर गया। इतना भर गया कि उसके परमाणु नेत्रों की राह वह निकले। कभी उन्हें पिता पर क्रोध आता, और कभी वह स्वयं

अपने भाग्य को कोसने लगते। आह! कुमुद अपने दिल में क्या सोचती होगी!--सोचती होगी कि यह सब शायद मेरे ही परामर्श से तो नहीं हो रहा है? उसका ऐसा सोचना स्वाभाविक भी है। पर हाय! मेरे हृदय की हालत वह क्या जाने? उसे क्या मालूम कि मेरे अंतस्तल में कैसी वेदना, कैसा द्वंद्व तथा कैसी भीषण अशांति का तूफ़ान मच रहा है। इसी प्रकार के अनेकानेक विचार उनके मानस-प्रदेश को व्यथित करने लगे। और, वह बेचैन होकर पलँग पर गिर पड़े।

सहसा कमरे के बाहर से 'विनोद बाबू' की वही चिर-परिचित मधुर ध्वनि उनके कान में पड़ी, जिसे सुनने के लिए वह सदैव अत्यंत उत्सुक रहा करते थे। पर आज? आज यह बात न थी। आज तो उसे सुनकर उनका दिल ही काँप उठा। सोचने लगे, अवश्य ही कुमुद मुझे उलाहना देने आ रही है। दुःख, भय और शर्म के मारे उनके मन की विचित्र दशा हो गयी। सिर चक्कर खाने लगा, सारा विश्व उन्हें अपनी आँखों के सामने तैरता हुआ-सा जान पड़ा। उस समय उनके हृदय की हालत जाननेवाला उनके सिवा और दूसरा कोई न था।

जब उनकी विचार-धारा कुछ भंग हुई, तो कुमुदिनी को अपने सामने खड़ी हुई पाया।

कुछ क्षण तक दोनों मौन रहे। अंत में कुमुदिनी ने

ही उस निस्तब्धता को दूर करते हुए कंपित स्वर में कहा—"विनोद बाबू! मैं आपको विवाह निश्चित हो जाने के उपलक्ष्य में ब...धाई......" उसका गला भर आया, इसके आगे वह कुछ भी न कह सकी।

विनोद के भी धैर्य का बाँध टूट गया, और आँखों से दो बूँद प्रेमाश्रु रोकने का प्रयत्न करने पर भी, बरबस ढुलक पड़े। उन्होंने तड़पकर कहा—"आह! कुमुद, यह कहकर तुम मेरे साथ कितना अन्याय कर रही हो, यह शायद तुम जानकर भी......"

"जानती हूँ, सब कुछ जानती हूँ। पर विनोद बाबू! अब तो उन सब स्मृतियों को भूल जाना ही........"

"नहीं कुमुद, मैं तुम्हें ऐसी आसानी से कदापि न भूल सकूँगा। यदि इस प्रणय-यज्ञ में प्राणों की भी आहुति देने की आवश्यकता प्रतीत हुई, तो मैं उसे भी सहर्ष दे डालूंगा, पर तुम्हारे सिवा और किसी दूसरी को अपनी जीवन-संगिनी बनाना मुझे जीते-जी कदापि स्वीकार नहीं हो सकता।"

कुमुदिनी के विषाद-युक्त मुखमंडल पर हर्ष की एक दैविक ज्योति आलोकित हो उठी। उसे ऐसा जान पड़ा, मानो यह एक-एक शब्द सच्चे हृदय से निकल रहा हो। उसने भी विनोद के स्वर में स्वर मिलाते हुए

विनोद बाबू के साथ निश्चिन्त हो जाने का समाचार विस्तार-पूर्वक लिखा हुआ था।

× × ×

पत्र पढ़कर दोनों की आँखों में हर्ष के आँसू भर आये। "मामी भी बड़ी वैसी हैं, मुझे यहाँ अकेली छोड़-कर......।"—यह कहते हुए कुमुदिनी कमरे से बाहर जाने को उद्यत हुई। किंतु, विनोद ने—"वाह! अब इस कृत्रिम लज्जा की क्या आवश्यकता?"—यह कहकर उसे अपनी ओर खींच लिया।

विमाता

विमाता

(१)

रजनी का तीसरा पहर था। चन्द्रदेव की फीकी किरणें पृथ्वी-तल पर फैल रही थीं। तारागण मध्यम प्रकाश से टिमटिमा रहे थे। प्राणी-मात्र कुछ काल के लिए विश्व-कोलाहल से मुक्त होकर अपने-अपने घरों में आराम की नींद ले रहे थे। मंद-मंद वायु बह रही थी, चारों ओर निस्तब्धता का साम्राज्य छा रहा था। हाँ, कभी-कभी कुत्तों के भूँकने तथा पहरेदारों के सचेत करने का शब्द अवश्य उस शांति में कुछ बाधक-सा जान पड़ता था।

एक सुन्दर सजे हुए कमरे में एक रोगिणी चारपाई पर पड़ी हुई है। सामने मेज पर दवाओं की कई शीशियाँ रखी हुई हैं, पास ही पीतल की दीवट पर रखा हुआ कड़वे तेल का दीपक जल रहा है, जिसका मध्यम प्रकाश रोगिणी के पीले और बलहीन चेहरे पर पड़ रहा है। रुग्ण-शय्या के निकट ही एक मनुष्य आरामकुर्सी पर लेटा हुआ ऊँघ रहा है। एकाएक रोगिणी के कराहने का शब्द सुनाई पड़ा, और उस पुरुष की निद्रा भंग हो

गई। वह हड़बड़ा कर उठ बैठा। धीरे-धीरे रोगिणी के शिर पर हाथ फेरते हुए उसने कहा--"क्यों ललिते! कैसा जी है?"

ललिता ने आँखें खोलीं, और अत्यन्त क्षीण स्वर से कहा--"पानी"--मनोहरलाल ने दो घूँट जल उसके मुँह में डाल दिया। इससे उसमें कुछ चेतना आ गई। मनोहर बाबू को कई रातें इसी प्रकार जागते-जागते बीत गई थीं। ललिता को रोगग्रस्त हुए कई महीने बीत गये। बीमारी के इस सुदीर्घकाल में अनेकों उपचार किये गये, सैकड़ों रुपये दवा एवं डाक्टरों की फ़ीस आदि में व्यय हुए, किन्तु कोई भी प्रयत्न सफल न हुआ। इसके विपरीत बीमारी दिन-प्रति-दिन बढ़ती ही गयी। पत्नी की इस दशा को देखकर मनोहर बाबू जल से निकाली हुई मछली की भाँति तड़प उठते। वास्तव में अपनी एक मात्र जीवन-सहचरी की ऐसी रुग्णावस्था को देखकर वह कौन सा मानव-हृदय है, जो क़ाबू में रह सके! किन्तु, उनके सामने तो और भी कठिन परीक्षा थी। घर में एक छोटे-से बच्चे के अतिरिक्त अन्य कोई भी न था। अतएव यह समस्या मूर्तिमान् निराशा के रूप में सामने खड़ी थी।

मनोहर बाबू की आँखें नींद से झप रही थीं, किन्तु पत्नी की चिन्ता में वह सोना, खाना, पीना सभी कुछ भूल गये थे। ललिता को वह प्राणों से भी अधिक प्यार करते

थे, और ललिता भी एक आदर्श सती की भाँति उन सब गुणों से सम्पन्न थी, जो एक वास्तविक गृह-लक्ष्मी में होने चाहिए। पति के इस असीम कष्ट और मानसिक वेदना से उसे बड़ा दुःख होता, किन्तु लाचारी थी। रोग चरम सीमा तक पहुँच चुका था।

ललिता ने अपनी दृष्टि पति की ओर करके कहा—"प्राणनाथ!"—मनोहर बाबू चौंक पड़े। अत्यन्त चिन्तायुक्त दृष्टि से पत्नी के कान्तिहीन मुखमंडल को निहारते हुए पूछा—"क्यों प्रिये! क्या कहती हो?"

ललिता ने रुकते-रुकते कहा—"यही कि आप क्यों वृथा कष्ट उठा रहे हैं? जिस प्रकार दीपक का तेल चुक जाने से वह बुझ जाता है, उसी प्रकार मेरी जीवन-यात्रा भी अब समाप्त ही हुआ चाहती है। नाथ! मैं न बचूँगी......"

मनोहर बाबू हृदय की व्यथा को दबा कर पत्नी को दिलासा देते हुए बोले—"छिः प्रिये! तुम क्यों ऐसी निराशा-पूर्ण बातें करती हो? डाक्टर साहब तो कह रहे थे कि अब रोग कम होता जा रहा........"

ललिता ने बात काटते हुए कहा—"मुझे भुलावा न दीजिए। मैं जानती हूँ कि इस जीवन-रूपी दीपक का तेल अब समाप्त हो चला है, मुझे जीने की अधिक इच्छा भी नहीं। मेरे लिए तो यही सुखकर होगा कि आप जैसे देवता-तुल्य पति के चरणों में प्राण त्याग दूँ।"

मनोहर बाबू का हृदय भर आया। अपने को सम्हालते हुए उन्होंने कहा—"प्रिये! ऐसा न कहो। तुम्हीं मेरे शरीर की आत्मा हो, तुम्हीं मेरी एकमात्र पूँजी हो। मैं तुम्हें ऐसी आसानी से कदापि न खो सकूँगा। यदि इस प्रणय-यज्ञ में प्राणों की भी आहुति देने की आवश्यकता प्रतीत हुई, तो मैं उसे भी सहर्ष दे डालूँगा।"

ललिता के पीले मुख पर प्रसन्नता की एक फीकी रेखा दौड़ गई। हृदय पुलकित हो उठा। संतोष की साँस लेकर उसने कहा—"जान-बूझकर बावले न बनो। जीवन-मरण मनुष्य के वश की बातें नहीं, यह तो संसार का नियम ही है। मृत्युञ्जय हो कर कौन आया है? आवागमन का चक्र तो चलता ही रहता है, फिर इसका क्या शोक!"

मनोहर बाबू हृदय के आवेग को अब अधिक न रोक सके। धैर्य का बाँध टूट गया, और आँखों से अश्रु-धारा बह चली। ललिता के शुष्क कपोलों पर भी दो-चार बूँदें आँसुओं की ढुलक पड़ीं। कुछ देर तक निस्तब्धता छायी रही, दोनों एक-दूसरे को विषाद-भरे नेत्रों से ताकते रहे। नैराश्य की छाया दोनों के मुँह पर पड़ रही थी। ललिता ने फिर पानी माँगा, और दो चम्मच जल गले में डाल दिया गया। इससे एक बार फिर उसमें बोलने की शक्ति आ गयी। उसने धीमे स्वर

से कहा—"प्राणेश्वर! क्यों बालकों की-सी बातें करते हो? अन्त समय में मुझे भी क्यों रुलाते हो? पुरुष होकर ऐसा हलका जी रखना उचित नहीं। न-जाने संसार में कितनी विपत्तियाँ आती हैं, यदि ऐसा ही हृदय रक्खोगे, तो कैसे काम चलेगा? अभी आपके सामने एक विशाल पथ है। नाथ! मुझे भूल जाना। अन्यथा व्यर्थ कष्ट उठाना पड़ेगा। हाँ, प्रकाश मेरी एकमात्र पूँजी है, जिसे आपके चरणों में सौंपे जाती हूँ। मातृ-हीन बालक पर दया रखना। यदि उसको ज़रा-भी कष्ट हुआ, तो मेरी आत्मा को भी शांति न मिल सकेगी।" इतना कहते-कहते रोगिणी का गला रुँध गया। इसके आगे वह कुछ भी न कह सकी। इसी प्रकार प्रभात हो गया। ऊषा की लाली पूर्व में फैल गई। प्रकाश भी उठकर नित्य की भाँति अपने खेल-कूद में लग गया।

(२)

आज ललिता ने बोलना बंद कर दिया है। आँखें बन्द किये पड़ी हुई है। जब गला सूख जाता है, तो टुकुर-टुकुर देखने लगती है। मनोहर बाबू थोड़ा-सा गंगाजल गले में टपका देते हैं। ललिता फिर आँखें मूँद लेती है। वह अपने जीवन की अन्तिम घड़ियाँ गिन रही है। साँस उलटे-सीधे चल रही है। देखते-देखते आँखें पथरा गईं। जीवन और मृत्यु के बीच संग्राम होने लगा

ललिता छटपटा रही है। डाक्टर और वैद्य पहले ही जवाब दे चुके हैं।

अर्द्ध रात्रि का समय था। ललिता को कई हिचकियाँ आयीं और उसकी आत्मा इस नश्वर शरीर को छोड़ कर सुरलोक को चली गयी। वह ज्योतिर्मयी कान्ति सहसा वायुमण्डल में विलीन हो गयी। सारे कष्टों का अन्त हो गया। अब न वह क्लेश है, न वह दुःख; और न हाय न तोबा।

मनोहर बाबू काठ की मूर्ति की भाँति निष्प्राण-से हो गये। क्या यही विशुद्ध प्रेम का अन्त है? यह मृत्यु-लोक है। यहाँ मनुष्य की भविष्य-कल्पनाएँ सब धरी की धरी ही रह जाती हैं। प्राणों से भी अधिक प्यारी ललिता को निर्दयी काल के पंजे से न छुड़ा सका। हाय! उसे मैंने सदा के लिए खो दिया। यह सोचते-सोचते वह अत्यंत व्याकुल हो उठे।

कल से मनोहर बाबू ने कुछ अन्न-जल ग्रहण नहीं किया। अपने कमरे में शोकाकुल पड़े हुए हैं। अतीत-काल की सुखद स्मृति उनके हृदय को विदीर्ण कर रही है। ललिता के चित्र को देखकर वह बच्चों की भाँति रोने लगते हैं। आह! कैसा सुखमय जीवन था। कभी स्वप्न में भी यह कल्पना तक न थी कि यह सब क्षणिक है, जो वायु के एक तीव्र झोंके से ही उड़ जायगा।

ललिता के कमरे में जाने से ही उन्हें भय मालूम पड़ता था। आह! वे वस्त्राभूषण, जिन्हें ललिता बड़े चाव से पहना करती थी, आज यों ही निराश्रय पड़े हुए थे। कमरे की सभी वस्तुएँ पहले की ही भाँति उसी प्रकार जैसी की तैसी करीने से सजी हुई हैं, किन्तु न-मालूम क्यों उनकी आभा बिलकुल फीकी-सी जान पड़ती है। मानो वे सभी ललिता के वियोग में रो-रो कर आँसू बहाने में मनोहर बाबू का साथ दे रहे हों। ललिता के विना सारे गृह की वही दशा थी, जो माली के विना एक सुन्दर वाटिका की हो जाती है।

दिनकरप्रसाद ने आकर सान्त्वना देते हुए कहा—"मनोहर बाबू! क्यों नादान हुए हो? जीना-मरना किसी के वश की बात नहीं। क्या संसार में कोई अमर होकर भी आया है? उठो, स्नान कर डालो। अम्मा भोजन के लिए न-जाने कब से तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही हैं।"

मनोहर बाबू की आँखें फिर सजल हो गयीं। बोले—"भाई! मन को कैसे समझाऊँ? नहीं मानता।"

दिनकर—"समझदार होकर ऐसी नादानी की बातें करते हो! चलो उठो, बहुत हो चुका। भोजन ठंडा हो रहा है। क्या जान खोने की ठान रक्खी है? देखते नहीं, संसार की अभी कितनी परीक्षाओं में तुम्हें उत्तीर्ण होना

है। विपत्ति का सामना वीरों की भाँति करो। इस प्रकार धैर्य खो देने से कैसे काम चलेगा ?"

दिनकरप्रसाद मनोहर बाबू के सच्चे मित्र एवं सहपाठी थे। दोनों में एक-दूसरे के प्रति अपूर्व स्नेह एवं अपरिमित श्रद्धा थी।

मित्र के बहुत आग्रह करने पर मनोहर बाबू ने थोड़ा-सा भोजन करके क्षुधा-रूपी अग्नि को शान्त किया। और फिर अपने कमरे में मुँह लपेट कर पड़ रहे।

मनुष्य की स्वाभाविक प्रकृति विस्मृति है। यदि यह गुण अथवा अवगुण उसमें न होता, तो वह रो-रो कर मर जाता। शनैः-शनैः ज्यों-ज्यों दिन बीतते गये, मनोहर बाबू का शोक भी कुछ कम होता चला गया। वह दफ़्तर जाने लगे, भोजन बनाने के लिए रसोइया रख लिया गया। प्रकाश तो पहले ही से ननिहाल पहुँचा दिया गया था।

(३)

ललिता को परलोक सिधारे कई मास बीत गये। इस मायाकृत संसार में मोह का बन्धन केवल जीव के साथ ही रहता है। उसका अंत हो जाने पर फिर से सांसारिक झंझटों में पड़ जाने के कारण मनुष्य उसे धीरे-धीरे प्रायः भूल-सा जाता है। यही नहीं, उसके वियोग का दुःख भी, जो ताज़ा होने पर अति दारुण तथा दुस्सह प्रतीत होता है, शनैः-शनैः ज्यों-ज्यों दिन बीतते

जाते हैं, कम पड़ता जाता है। और अंत में अपने पीछे एक स्मृतिमात्र छोड़ कर स्वयं लुप्त-सा हो जाता है। यही मानव-संसार का नियम है। इसके विना कोई काम ही नहीं चल सकता। अस्तु।

मनोहर बाबू का शोक भी समय के अन्तर के अनुसार अब बहुत कुछ कम हो गया था। किन्तु, प्रसंगवश कभी-कभी उनके हृदय में एक ऐसी हूक उठ आती, जो उन्हें कुछ काल के लिए बेचैन कर देती थी। उन्होंने निश्चय कर लिया कि अब विवाह न करूँगा। किन्तु मित्रों, संबंधियों तथा सुहृद्जनों ने न माना। बोले—"देखो, समय बड़ा बुरा है। लांछन लगते कुछ देर नहीं लगती। मनुष्य चाहे कितना ही चरित्रवान् क्यों न हो, लेकिन वह ज़माने का मुँह तो बन्द नहीं कर सकता। विवाह अवश्य कर लो। स्त्री को अर्द्धाङ्गिनी कहा गया है। कोई पक्ष उसके विना पूर्ण नहीं होता। फिर अभी तुम्हारी उम्र ही क्या है? इस अवस्था से त्यागमूर्ति बनकर संसार-यात्रा में सफल न हो सकोगे। जब तक सांसारिक बन्धनों में जकड़े हो, गृहस्थी रखनी ही पड़ेगी। आदि-आदि।

परन्तु मनोहर बाबू यह कहकर टालते रहे कि विवाह का मुख्य उद्देश्य सन्तानोत्पत्ति है, न कि भोग-विलास। ईश्वर की कृपा से मुझे अब उसकी आवश्यकता नहीं।

किन्तु, "नर चेती होवे नहीं, प्रभु चेती तत्काल।" प्रभु की इच्छा के विपरीत मनुष्य अपने निश्चय पर अटल रहते हुए अपने संकल्प को कब पूरा कर पाया है ?

साल-भर के बाद ही मनोहर बाबू को अपनी अवस्था का अनुभव हो गया। न भोजन का कोई सुप्रबन्ध, और न कोई बोलने-चालने वाला ही था। रोगशय्या पर पड़े हुए हैं, पर कोई औषधि देने वाला तक नहीं। दूनी-चौगुनी तनख्वाह देने पर भी नौकर ठीक तरह से काम नहीं करते।

मनुष्य की दृढ़ता की परीक्षा कष्ट के समय में ही होती है। जिस प्रकार सोना अग्नि में तपाये जाने से और भी निखर उठता है, उसी प्रकार यदि मनुष्य भी त्याग की अन्तिम सीमा तक पहुँच जाय, तो उसकी उज्ज्वल-कीर्ति संसार में देदीप्यमान हो जाय। लेकिन कितने मनुष्य ऐसे हैं, जो त्याग-व्रत धारण करके अपने सांसारिक आनन्द और वैभव को पैरों तले रौंद देते हैं ?

मनोहर बाबू पर लक्ष्मी की विशेष कृपा तो थी ही, अतएव विवाह होते देर न लगी। विवाह-कार्य धूम-धाम से सम्पन्न हुआ। प्रकाश नये वस्त्र पहने फूला न समाता था। यह आनन्दोत्सव, चहल-पहल, बिजली और गैस का प्रकाश आदि उसके लिये एक नवीन और

उल्लासमयी वस्तुएँ थीं। इन सब सामग्रियों ने उसके चारों ओर एक अद्भुत हर्ष का वातावरण उत्पन्न कर दिया। आह! उस भोले-भाले नादान बालक को क्या खबर थी कि इस सारे आनन्द का परिणाम भविष्य में उसके लिए क्या रंग लायेगा?

मनोहर बाबू ने फिर से गृहस्थाश्रम में प्रवेश किया। पुरानी स्मृतियाँ इस नये उल्लास और आनन्द के आवेग में एकदम बह गयीं। वही मनोहर बाबू, जो कुछ दिन पूर्व ललिता के नाम की माला जपा करते थे, नयी पत्नी के प्रेम-पाश में फँस कर अब उसे बिलकुल ही भूल गये। मानो उसे जानते ही न हों। सच है, समय के चक्र से मनुष्य के विचारों में क्षण-क्षण में महान् परिवर्तन होते ही रहते हैं।

(४)

दुलारी ने घरमें प्रवेश करते ही सब वस्तुओं पर अपना अधिकार जमा लिया। साथ ही साथ मनोहर बाबू का दिल भी अपनी मुट्ठी में कर लिया। घर में न सास, न ननद। फिर भय किसका? पूर्ण-स्वराज्य मिल गया।

दुलारी वास्तव में सुन्दरी थी। उसमें एक विशेष आकर्षण था। अपने हाव-भाव और चिकनी-चुपड़ी बातों से उसने मनोहर बाबू को अत्यन्त मुग्ध कर लिया। वह प्रकाश को बड़े दुलार से खिलाती-पिलाती

और मीठी-मीठी, प्यारी, मनोहर कहानियाँ सुनाती थी। इसी कारण प्रकाश भी अपनी माता के अभाव को भूल कर उसे ही अपनी जननी समझने लगा।

मातृहीन बालक प्रकाश को मनोहर बाबू भी प्राणों से अधिक प्यार करते थे। वही ललिता की एकमात्र और अन्तिम भेंट था। प्रकाश पर इतना अधिक वात्सल्य दिखाकर दुलारी ने मनोहर बाबू को खूब सन्तुष्ट कर लिया। और दोनों दम्पति-रूप में जीवन के सुखमय दिवस व्यतीत करने लगे।

जिस प्रकार विष-रस से भरा हुआ कनक घट बाहर से देखने में तो अत्यन्त सुन्दर और मनोहर मालूम होता है, किन्तु उसके अन्दर हलाहल भरा रहता है; ठीक उसी प्रकार दुलारी भी बाहर से तो बड़ी नम्र, स्नेहमयी और सुन्दर थी, परन्तु वास्तव में थी वह विष की गाँठ।

इसी प्रकार दो साल व्यतीत हो गये। दुलारी ने एक पुत्र-प्रसव किया। बस यहीं से अब प्रकाश की विपत्तियों का युग प्रारंभ हुआ। अब तक मनोहर बाबू पर दुलारी का प्रबल प्रभाव पड़ चुका था। अब तो प्रकाश के प्रति दुलारी का बनावटी स्नेह भी दिन प्रति दिन घटता गया। वही प्रकाश, जिसका मन हाथों पर रखा जाता था, अब काँटे की भाँति आँखों में खटकने लगा।

बालकों की स्वाभाविक प्रकृति खेल-कूद की ओर तो होती ही है। बस, दुलारी को एक अच्छा बहाना मिल गया। प्रकाश के वस्त्र जरा भी मैले हुए नहीं कि बे तरह मार पड़ी! धीरे-धीरे प्रकाश को घर में पैर रखते हुए भी भय मालूम होने लगा।

मनोहर बाबू दफ़्तर से लौटे और दुलारी ने प्रकाश की झूठमूठ शिकायतों के बंडल खोलने शुरू किये। निर्दोष बालक पिता की नज़रों से भी गिर गया। अब किसी को भी उसकी चिन्ता न रही। इस पर कोमल शरीर पर घूसों और बेंतों के निर्दय प्रहार! बालक बिल-बिला उठता, गिड़गिड़ाकर कहता—"मा! मत मारो, अब खेलने न जाऊँगा।"

छोटा बबुआ प्रकाश को बहुत ही प्यारा लगता था, लेकिन विमाता के भय से वह उसे जी-भर कर खिला भी न सकता था। एक दिन बबुआ पालने में लेटा हुआ था, दुलारी भोजन बना रही थी। प्रकाश ने मुसकराते हुए शिशु को देखा, उसको उसे गोद में लेने की प्रबल इच्छा हो उठी। धीरे-धीरे पास जाकर उसने पालने में से बबुआ को उठा लिया, किन्तु उसके दुर्बल हाथ उसे संभाल न सके। बबुआ पालने में ही गद्दे पर गिर पड़ा और रोने लगा। दुलारी उसके रोने का शब्द सुनकर दौड़ी हुई आयी। प्रकाश अपराधी की

नाई कमरे के एक कोने में जा खड़ा हुआ। दुलारी ने बबुआ को रोता हुआ छोड़ कर प्रकाश को पीटना शुरू किया। उस दिन भोजन न बना, अधूरी ही रसोई पड़ी रह गई।

जब मनोहर बाबू घर में आये, तो दुलारी ने इस बे-बात की बात को बढ़ा-चढ़ा एवं ननक-मिर्च लगाकर उनके कान खूब भरे। मनोहर बाबू यह सुनकर बड़े क्रोधित हुए। आवेश में आकर उन्होंने प्रकाश को पीटने के लिए हाथ उठाया ही था, कि दुलारी ने उसे बीच ही में रोक लिया। बोली—"बस जाने दो, इतना ही बहुत है। वैसे भी तो लोग मुझे ही दोष देंगे, कि दूसरी मा है, इसी से बालक को पिटवाती है।"

मनोहर बाबू दुलारी की इस उदारता की मन-ही-मन प्रशंसा करने लगे। वास्तव में ठीक कहा है—"स्त्रिया-श्चरित्रं पुरुषस्य भाग्यं, देवो न जानाति कुतो मनुष्यः।" प्रकाश को इतना कष्ट पाकर माता की स्नेहमयी गोद फिर याद आने लगी। पिता के सन्दूक में से ललिता का चित्र निकालकर वह जननी की शान्तिमयी मुख-मुद्रा को घन्टों निहारा करता। किन्तु, हृदय-हीन विमाता को यह बात भी भली न लगी। चित्र प्रकाश के हाथ से छीन कर टुकड़े-टुकड़े कर दिया। प्रकाश रोकर रह गया। रोने के सिवा और करता ही क्या? दुलारी मुँह फुलाकर चली गयी।

सन्ध्या-समय जब मनोहर बाबू दफ़्तर से लौटे, तो दुलारी ने त्रिया-चरित्र फैलाते हुए कहा—"अजी, देखते नहीं हो अपने लाड़िले के लच्छन ! तुम्हारे बक्स तक नौबत पहुँच चुकी है। अगर इसी प्रकार रहा, तो कुछ दिनों में वह कहीं पक्का डाकू न बन जाय !"

मनो०—"क्यों, क्या हुआ ?"

दुलारी—"हुआ क्या, वही जो रोज हुआ करता है।"

मनो०—"आख़िर कुछ कहोगी भी, या पहेली ही बुझाती रहोगी।"

दुलारी—"तुम्हारे बक्स का ताला तोड़ कर आज तुम्हारे दुलारे ने कई चीज़ें निकाल लीं। जब मैं कमरे में गई, तो जल्दी से उन्हें जेब में छिपा लिया। यह चित्र भी हाथ में था, जब मैं इसे सँभाल कर रखने लगी तो उसने तुरन्त इसे फाड़ डाला। तुम्हारे इस लाड़-प्यार ने तो घर का बिलकुल ही सत्यानाश कर दिया है। मेरे वश का तो रहा नहीं।"

मनोहर बाबू यह वृत्तांत सुनकर आपे-से बाहर हो गये। बोले—"कहाँ है वह धूर्त शैतान ? आज मैं उसे घर से निकाल बाहर किये बिना न रहूँगा।"

दुलारी ने मानो जलती हुई अग्नि में घी डालते हुए कहा—"अजी, यों ही सिर्फ़ कहने ही भर से काम न चलेगा। तुम्हीं ने तो उसे शिर पर चढ़ा रखा है।"

प्रकाश डरता-डरता कमरे में आया। पिता का क्रोध से भरा तमतमाया हुआ चेहरा देखकर उसके शरीर का रोम-रोम काँप उठा।

मनोहर बाबू ने कड़ककर कहा—"क्योंरे दुष्ट, नालायक! तेरा यह हौसला! बोल! यह चित्र तूने क्यों और कहाँ से निकाल कर फाड़ा है?"—यह कहते हुए उन्होंने प्रकाश को पीटते-पीटते बे-दम कर दिया।

प्रकाश इस निर्दय मार से रोते-रोते बेहोश हो गया। बेहोशी में ही उसकी आँख लग गई। उसने देखा—स्नेहमयी जननी सामने खड़ी है, और कह रही है—"आ जा मेरे लाल! तू दुष्टों तथा हृदय-हीनों के हाथों में पड़ गया है। हीरे की क़द्र जौहरी ही जानता है, दूसरा नहीं।" प्रकाश दौड़ कर माता के स्नेहालिंगन में चला गया।

विमाता के नित-प्रति के निर्दय अत्याचारों से प्रकाश का दिल अब टूट गया। रोग की छाया उसके चेहरे पर मँडराने लगी।

(५)

प्रकाश बेहोश पड़ा है। उसका सारा शरीर ज्वररूपी अग्नि की प्रचंड ज्वाला से भस्म हो रहा है। होंठ जल के बिना सूखे जा रहे हैं, किन्तु दुलारी अपने कमरे को सजाने में लगी हुई है।

मनोहर बाबू घर लौटे तो देखा, प्रकाश अचेत पड़ा

है। और उसकी सारी देह भाड़ के समान भुन रही है। देखते-देखते आँखों की पुतलियाँ ऊपर को चढ़ने लगीं। यह दशा देखकर वह अत्यन्त घबरा उठे। तुरन्त डाक्टर बुलाया गया। तमाम कोशिशें की गईं, किन्तु मृत्यु कब किसकी रियायत करती है? अंत में होनहार बालक प्रकाश विमाता के कठोर व्यवहार और पिता की निर्दयता से तंग आकर समय से पहले ही इस असार-संसार को छोड़कर चल बसा।

मनोहर बाबू मूर्च्छित होकर गिर पड़े। देखा—ललिता सामने खड़ी कह रही है—"मेरे लाल को आखिर मार ही दिया न! थोड़े दिन भी मेरी धरोहर को न रख सके!"

मनोहर बाबू की आत्मा काँप उठी। दुलारी उन्हें होश में लाने का असफल प्रयत्न कर रही थी, किन्तु उन्होंने फिर आँखें न खोलीं। और मूर्च्छा चिर-निद्रा में परिणत हो गई।

अछूत

अछूत

(१)

प्रातःकाल का समय था। मंदिर में घंटे की ध्वनि गूँज रही थी। प्रभावती ने पूजा का थाल उठाया, और सीधे मंदिर की ओर चल पड़ी। द्वार पर पहुँच कर वह एकाएक ठिठक गई। देखा—मंदिर के सामने बड़ी भीड़ इकट्ठा हो रही है, और कई आदमी एक अस्थिचर्मावशिष्ट दीन-हीन बूढ़ी की ओर अग्निमय नेत्रों से घूरते हुए झिड़कियों और गालियों की इस प्रकार बौछार कर रहे हैं, मानो कई सनातनी पंडित मिलकर धारा-प्रवाह-रूप में एक स्वर से वेदमंत्रों का उच्चारण कर रहे हों।

प्रभावती ने देखा—बूढ़ी और कोई नहीं, मुहल्ले की वही सुखिया है, जिसे सभ्य-समाज 'अछूत'-नाम से पुकारा करता है। सुखिया चेतनाशून्य-सी होकर ज़मीन पर पड़ी थी। ठाकुरजी की अभ्यर्थना के निमित्त लाये हुए पुष्प पृथ्वी पर यत्र-तत्र बिखरे पड़े थे। सिर से ख़ून बह रहा था, और आँखों से अविरल अश्रु-धारा।

प्रभावती यह कारुणिक दृश्य देखकर सहम उठी। पूजा का थाल एक ओर रख दिया, और सुखिया का सिर

अपनी गोद में रखकर घाव धोने का प्रयत्न करने लगी। घाव धोकर उसने अपनी साड़ी का एक छोर फाड़ा, और सुखिया के सिर पर पट्टी बाँध दी। इसके बाद वह प्रेम-पूर्वक कोमल स्वर से उसको सांत्वना देती हुई बोली--"सुखिया, और कहाँ पर चोट लगी है ? बोल, मैं वहाँ पर भी पट्टी बाँध दूँ।"

सुखिया प्रभावती की इस सहृदयता से अपनी सारी व्यथा को भूल-सी गई, प्रभावती की कृपा के भार से वह दबी-सी जा रही थी। उसने आंतरिक कृतज्ञता प्रकट करते हुए कहा--"बहू ! भगवान् तुम्हें बनाये रक्खें। तुम्हारे सुख-सौभाग्य की दिन-दूनी रात-चौगुनी बढ़ती हो। दूधों नहाओ, पूतों फलो। तुमने मेरे व मेरे रामूँ--दोनों के प्राण बचा लिये। नहीं तो आह ! मेरा प्यारा रामूँ......"

"क्यों सुखिया ! रामूँ कुशल से तो है न ?"--प्रभावती ने जिज्ञासा-पूर्वक प्रश्न किया।

"आह ! बहू, ईश्वर ही कुशल करे। आज पाँच रोज़ से बुख़ार में पड़ा हुआ है। मुँह में अन्न का दाना तक नहीं गया। कल सारी रात आँखों में ही काटी। बैदजी की दी हुई चार पैसे की दवाई की पुड़िया भी ख़तम हो गई, पर होश की तो कौन कहे, आँख तक नहीं खोली। आज अब दवा को भी पैसे नहीं रहे। आह ! भगवान् ! तेरे सिवा मुझ

दुखिया का और कोई सहारा नहीं।"—इतना कहकर सुखिया ज़ोर-ज़ोर से रोने लगी।

प्रभावती ने उसे धैर्य बँधाते हुए कहा—"सुखिया, रो मत। भगवान् बड़े दयावान् हैं। वह तेरे रामू की रक्षा करेंगे। चल, तुझे घर तक पहुँचा दूँ। तेरा रामू घर पर अकेला ही पड़ा होगा, तू उसे वैसी दशा में छोड़ कर......"

"बहू! ठाकुरजी की मनौती मानने ही यहाँ चली आई थी। मैं नसीबोंजली क्या जानती थी कि ठाकुरजी का मंदिर हम-जैसे दीन-दुखियों की पुकार सुनने के लिए नहीं बनाया गया है!"

सुखिया के इन करुण और मार्मिक शब्दों ने प्रभावती के उदार हृदय पर गहरी चोट की। पर वह अकेली कर ही क्या सकती थी?—उसने सुखिया का हाथ पकड़ा, और धीरे-धीरे सीधे उसे घर की ओर ले चली।

* * *

उसके घर पहुँच कर प्रभावती ने देखा—रामू बिलकुल अचेत पड़ा हुआ है। उसका सारा शरीर ज्वर-रूपी अग्नि की प्रचंड ज्वाला से भस्म हो रहा है। यह दशा देखकर वह घबरा उठी, और चिंतायुक्त स्वर में सुखिया से बोली—"सुखिया, तू जाकर जल्दी से वैद्यजी को बुला तो ला। मैं यहाँ पर बैठी हूँ। ले, यह उन्हें दे देना और कहना कि जल्दी चलें।"—यह कहते हुए उसने अपने अंचल

में से एक अठन्नी खोलकर उसके हाथ में पकड़ा दी। सुखिया मन-ही-मन प्रभावती को लाख-लाख असीस देती हुई वैद्यजी के घर की ओर दौड़ पड़ी।

(२)

पं० भगतराम इस गाँव में एक-मात्र वैद्य थे। पंडितजी पक्के सनातनी तथा पूरे पेट्ट थे। वैसे तो पंडितजी अछूतों की छाया-मात्र से ही दूर भागते, पर सौभाग्य अथवा दुर्भाग्यवश यदि कभी उन्हें किसी को बीमारी की दशा में छूने का सुअवसर प्राप्त होता, तो उस समय वह अपना चिरप्रिय सिद्धांत बिलकुल ही बदल देते थे। हाँ, ऐसी दशा में एक बार स्नान करके अपनी भारी-भरकम देह को शुद्ध ज़रूर कर लेते थे। गाँव में अन्य कोई प्रतिद्वंद्वी न होने के कारण लोगों को मनमाना लूटा करते। लोग उन्हें धन्वंतरि समझते थे। गाँव-भर में उनका बोल-बाला था।

सुखिया रोती हुई उनके पास पहुँची। वैद्यजी अपने औषधालय में बैठे हुए किसी बीमार के आने की आशा में माला फेर रहे थे। सुखिया को देखकर उन्होंने माला तख़्त पर डाल दी, और गंभीर भाव से बोले—"क्यों री सुखिया! क्या हाल है?"

सुखिया ने अपनी आँखों के आँसू पोंछते हुए कहा—

"महाराज, कल रात से बेचैनी बढ़ गई है। आप ज़रा चलकर देख देते तो........"

वैद्यजी को सुखिया से चार पैसे से अधिक प्राप्ति की आशा न थी। इसलिए झल्लाते हुए बोले—"देखती नहीं, मैं नहा-धोकर भगवान् की पूजा में बैठा हुआ हूँ। रोगी को कैसे छू सकता हूँ? तू दवा ले जाकर दे, आराम हो जायगा।"

सुखिया ने प्रभावती की दी हुई अठन्नी वैद्यजी के चरणों में भेंट करते हुए दीनता-भरे शब्दों में गिड़गिड़ाकर कहा—"महाराज! आप ही का भरोसा है। चलकर मेरे रामू के प्राण बचा दें। भगवान् आपका भला करेंगे।"

वैद्यजी का मनोरथ सिद्ध हुआ, उनकी बाँछें खिल गईं। उन्होंने जल्दी-जल्दी कपड़े पहने, दो-चार पुड़ियाँ दवाओं की बनाकर अचकन की जेब में डालीं, और लाठी टेकते तथा खड़ाऊँ फटफटाते हुए सुखिया के साथ हो लिये।

(३)

तीन रोज़ और व्यतीत हो गये। प्रभावती की आर्थिक उदारता के कारण वैद्यजी का इलाज तो जारी रहा, पर रामू का ज्वर न उतरा। सन्निपात के चिह्न दिखाई देने लगे। यह दशा देखकर वैद्यजी के हाथ के तोते उड़ गये। बेचारी अनाथ सुखिया के बुढ़ापे के एकमात्र अवलंब—

रामूँ—को काल-कवलित होते देखकर उनका दिल उसके प्रति सहानुभूति के पवित्र एवं करुण भावों से द्रवीभूत हो उठा हो, यह बात नहीं। स्वार्थी एवं ढोंगी मानव-रूपी कठोर ऊसर के खेत में सच्ची दया तथा सहानुभूति के लहलहाते हुए पौधे कहाँ! उन्हें सिर्फ़ भय था तो यही कि निकट-भविष्य में होनेवाली इस दुर्घटना से कदाचित् गाँव-भर में मेरी जमती हुई साख मिट्टी में न मिल जाय। क्योंकि उनका वैद्यक का पेशा कोई बहुत पुराना न था, बल्कि अभी हाल में गाँव के एक वयोवृद्ध तथा अनुभवी वैद्य के देहावसान हो जाने पर ही, उक्त स्थान बिलकुल रिक्त देखकर, उनके जी में ठोंक-पीटकर वैद्यराज बनने की धुन समाई थी।

सौभाग्य से आरंभ में उन्होंने गाँव में जितने भी इलाज किये, उनसे प्रायः सभी रोगियों को लाभ ही प्रतीत हुआ। अतएव ग्रामीण भोलीभाली तथा अधिकांश अशिक्षित जनता ने उन्हें 'लुक़मान' साहब की उपाधि दे डाली। वैद्यराजजी को इतनी फुर्सत कहाँ कि वह इस श्रेय का वास्तविक कारण खोजने का कष्ट करें। उन्होंने इसका अधिकाधिक दुरुपयोग करने में तनिक भी संकोच न किया!

यद्यपि प्रभावती की अनुकंपा से उन्हें बेचारी गरीब तथा वृद्ध सुखिया से भी अब तक लगभग चार-पाँच

रुपये से कम प्राप्त न हुए होंगे; फिर भी इस रक़म की उनकी जेब में वैसी ही दशा हुई, जैसी बालू के ढेर में दो-एक बूँद पानी की।

वैद्यजी ने जब देखा कि रामूँ का ज्वर उतरने के बदले बढ़ता ही जा रहा है, तो उन्होंने अपने को संकट से बचाने का अन्य कोई उपाय न देखकर एक दूसरी ही चाल सोच निकाली। अत्यन्त सहानुभूति के स्वर में सुखिया को दिलासा देते हुए बोले--"सुखिया! तेरी मनौती की बदौलत तबियत कुछ अच्छी तो हुई, पर बुख़ार अच्छी तरह पीछा नहीं छोड़ता। हमने भी यथा-संभव कोई प्रयत्न बाक़ी नहीं रक्खा। मेरी राय में तो इसके शीघ्र स्वस्थ होने का एक ही सुगम उपाय है, और वह यह कि तुरंत जलवायु-परिवर्तन करा दिया जाय। तू शीघ्र इसे लेकर इसके बाप के घर चली जा। मा नहीं है. तो क्या हुआ? आख़िर बाप तो मौजूद है ही। इस दशा में इसे देखकर उसे कुछ-न-कुछ दया तो आ ही जायगी। यहाँ पर ननिहाल में तेरे सिवा इसकी देख-रेख करनेवाला कोई दूसरा भी तो नहीं है।"

सुखिया का संतप्त हृदय कृत्रिम सहानुभूति की इस हलकी-सी चोट को भी सहन न कर सका। आँखों में आँसू भरकर बोली--"महाराज! यह सब आपकी दवा का ही असर है। मुझ दीन-दुखिया की मनौती को

भला ठाकुरजी के पास तक पहुँचने का अधिकार ही कहाँ !! उस दिन भगवान् के मंदिर में दरवाज़े के बाहर भी न पहुँच पाई थी कि सड़क पर ही वह बुरी गत हुई। वह तो मेरे बड़े भाग थे, जो बचकर लौट आई। नहीं तो आज आपके सामने अपना दुखड़ा रोने को भी मौजूद न होती। भगवान् ने जिस प्रकार अपने मंदिरों में दर्शन आदि करने तथा ऐसी ही अन्य सामाजिक सुविधाओं के अधिकार हम-जैसे दीन-दुखियों को न देकर केवल आप-जैसे बड़े आदमियों को ही दिये हैं, वैसे ही यह संतान का मोह भी अगर हमें न दिया होता, तो मैं उस दिन मंदिर में अपने प्राण बच जाने पर इस नरक के संसार में आज इतनी ख़ुशी काहे को मनाती ! हाँ, रामू को इसके बाप के घर कौन मुँह लेकर ले जाऊँ? मेरी लड़की के मर जाने के बाद जब उसने जल्दी ही दूसरा ब्याह कर लिया, और इसकी उन दोनों में से एक ने भी कोई फिकिर न की, तब मैं इसे अपने पास ले आई। तभी से उसने इसे छोड़ दिया। अब तो वह मुझसे बिलकुल भरा बैठा है। नौ महीने का मैं इसे यहाँ लाई थी, तब से आज पाँच वर्ष पूरे बीत गये। पर उस भलेमानुस ने कभी बात तक न पूछी। मेरे भी इसके सिवा दूसरा और कौन बैठा हुआ है, जिसके लिए फिकिर करूँ। आप किसी तरह इसके प्राण बचा दें, मरने पर

भी आपका गुण गाऊँगी।"—यह कहते हुए वह सिसक-सिसक कर रोने लगी।

वैद्यजी अपना निशाना चूकता हुआ देखकर एक तीव्र कटाक्ष से सुखिया को घूरते हुए बोले—"सुखिया, हमारी समझ में तेरी यह वाहियात बातें बिलकुल नहीं आतीं। मंदिर-प्रवेश के विषय में तेरी यह बहस अच्छी नहीं। भला, तुम्हारी जाति के लोगों का भगवान् के मंदिर में जाने का दुस्साहस करना कहीं क्षमा के योग्य है? नहीं, कदापि नहीं। जो बात धर्मशास्त्रों में भगवान् के यहाँ से ही वर्जित हो, उसके विरुद्ध मनुष्य-जैसे दुर्बल प्राणी का कोई भी विचार किसी हालत में ईश्वर के यहाँ तक क्षम्य नहीं। वह तो अच्छा हुआ, जो तू दरवाज़े के बाहर ही रही; नहीं तो सारा मंदिर छूत से भ्रष्ट हो जाता, और तुझे भी इस बुढ़ौती में वह घोर पाप लगता, जिसका किसी जन्म में भी निस्तार न होता। दूसरे, तेरी यह अकड़ भी ठीक नहीं। अपने मतलब के लिए मनुष्य सभी कुछ करता है। फिर वह तो तेरा जवाई ही ठहरा। हमारे हिंदू-धर्म में तो जवाई को लड़के के समान ही माना गया है। फिर तू अपने स्वार्थ से तो वहाँ जा नहीं रही है। किसी की धरोहर उसे लौटाने में संकोच करना मूर्खता है। माना कि रामू स्वस्थ नहीं, पर वहाँ जाने पर निश्चय ही स्वस्थ हो जायगा। इस

काम में ढिलाई करना अच्छा नहीं। इससे तो फ़ायदे के बदले नुक़सान ही होने का ज़्यादा डर है।"

वैद्यजी के अंतिम वाक्य से सुखिया के होश उड़ गये। अतएव उसने इच्छा न रहते हुए भी उनकी आज्ञानुसार कार्य करना स्वीकार कर लिया।

(४)

जाने के पहले सुखिया ने प्रभावती से जब वैद्यजी के सलाह-मशविरे आदि का सब हाल कहा, तो उसे उनकी इस धूर्तता को समझते देर न लगी। साथ ही उसे सुखिया की सरलता पर तरस तथा वैद्यजी की निन्दनीय स्वार्थपरता पर खेद भी कुछ कम नहीं हुआ। यों तो, वह वैद्यजी की ठगविद्या से पहले से ही कुछ-न-कुछ परिचित थी, पर प्रत्यक्ष प्रमाण का यह पहला ही अवसर था। वह उस गाँव के प्रतिष्ठित ज़मींदार बाबू हरिविहारी के सम्मान्य गृह की आदर्श कुलवधू थी। दम्भ, ढोंग एवं छल-कपट आदि सभी दुर्गुण उससे उतने ही दूर रहते थे, जितने कि हमारे वैद्यजी के सन्निकट।

उफ़्! मानव-हृदय इतना निष्ठुर, ढोंगी, कपटी एवं स्वार्थयुक्त हो सकता है, इसकी उसने कल्पना तक न की थी। करती भी कैसे? उसके कोमल हृदय में तो उक्त दुर्गुणों के लिए कोई स्थान ही न था। ओह! सन्निपात की इस भयावनी परिस्थिति में सुखिया को रोगी को घर से बाहर

ले जाने की सलाह देकर वैद्यजी उसकी डगमगाती हुई नौका को किस निर्दयता से डुबो देना चाहते हैं! हाय! अपने स्वार्थ के सामने उनकी दृष्टि में एक ग़रीब के प्राणों का कोई मूल्य नहीं।—इस विचार के स्मरण-मात्र से ही वह सिहर उठी। अत्यन्त दुःखित होकर सुखिया को दिलासा देती हुई बोली—"सुखिया, इस हालत में तेरा बीमार को अन्यत्र ले जाना खतरे से खाली नहीं। फिर वहाँ अब तेरा बैठा ही कौन है, जो उसकी देख-रेख करेगा। इतने वर्ष बीत गये, जब दामाद ने इस बीच में कभी तुझसे सीधे-मुँह बात तक न की, तो क्या अब इस हालत में वह तुझे अपनी ड्योढ़ी भी नाँघने देगा? पराये लड़के-लड़की कभी अपने नहीं होते। तेरी तो उमर ही यह सब देखते-सुनते बीत गई। फिर भला, मैं तुझे रामू को वहाँ ले जाने की सलाह कैसे दे सकती हूँ?"

सुखिया ने दीनताभरे शब्दों में कहा—"बहू! भगवान् तुम्हें बड़ी उमर दे। तुमने बिलकुल मेरे मन की-सी बात कही। मैं तो अपना यही सब दुखड़ा वैदजी को भी सुना चुकी। पर वह नहीं मानते। क्या करूँ, अब तो यह एक दूसरा संकट गले आ पड़ा। एक तरफ़ कुँआ, दूसरी तरफ़ खाई! अगर न जाऊँ तो फिर शायद गाँव में भी न रहने पाऊँगी। न-जाने वह क्यों वहीं ले जाने पर ज़ोर दे रहे.........."

प्रभावती ने बात काटते हुए कहा—"सुखिया! शायद तेरी दी हुई भेंट उनके लिए काफ़ी न होती होगी। इसी-लिए कहीं बहाना न कर रहे हों।"

सुखिया ने तुरंत उत्तर दिया—"बहू! तुम्हारा सोहाग बना रहे, तुम्हारी दया से वह बात भी तो नहीं। इतने दिनों की बीमारी में कुल चार-पाँच दफ़े तो वह मेरे घर पर आये ही होंगे। घर से ही दवाई की पुड़िया रोज़ माँग लाती हूँ। पहले दिन जब उन्होंने नवज़ हाथ में लेकर बुखार देखा था, तो घर जाकर शायद उन्हें दुबारा नहाना पड़ा। तब से अब रोज़ नहा-धोकर आने का बहाना करके बस दूर ही से रामू को एक नज़र देख देते हैं। इस पर हर अवाई-जवाई के मैंने तुम्हारे कहे मुताबिक़ आठ-आठ आने पैसे उन्हें दिये ही हैं। और दवाई के दाम अलग से।"

प्रभावती यद्यपि वैद्यजी के सनातनी ढोंग से भी अप-रिचित न थी—क्योंकि, वह गाँव की सनातनधर्म-सभा के स्थायी सभापति भी थे—पर आज सुखिया से यह सुनकर कि उस दिन रोगी को छूने से उन्हें नहाना पड़ा, और अब वह इस छुआछूत के भय से बिना छुए ही उसका इलाज कर रहे हैं, वह कुछ देर तक चित्रलिखित-सी खड़ी रह गई। स्वार्थी समाज के प्रति तरह-तरह के विद्रोहात्मक विचारों का तूफ़ान उसके कोमल प्रशांत

हृदय को डगमगाने लगा। किंतु; उचित अवसर न देख-कर उसने शीघ्र ही अपने दिल में उठते हुए उस उबाल को आशा एवं धैर्य के शीतल छींटे देकर शांत कर लिया। और गंभीरतापूर्वक कहने लगी—"सुखिया! इस निंद-नीय समाज की बदौलत तुम्हारी जाति के लोगों ने जो कष्ट उठाये, वह अब चरम सीमा पर पहुँच चुके हैं। सदा एक-सी किसी की भी नहीं रही, और न रहेगी। ईश्वर ने चाहा तो अब शीघ्र ही तुम्हारे दिन भी फिरेंगे। मैं रामू को आज ही अपने घर लिवा लाकर अच्छी तरह से इलाज कराना आरंभ करती हूँ। तू भी घर में ताला डालकर हमारे घर पर ही चली आ, जिससे तुझे वैद्यजी की आज्ञा उल्लंघन करने का दंड न भुगतना पड़े। रामू की तू अधिक चिंता मत कर। ईश्वर ने चाहा तो अच्छा हो जायगा।"

सुखिया प्रभावती की इस आदर्शपूर्ण सहृदयता के भार से दब-सी गई, और उत्तर में एक शब्द भी उसके मुँह से न निकला।

(५)

'गाँव के ज़मींदार बाबू हरिविहारी के घर में बच्चे की बीमारी के कारण इलाज के लिए शहर से वैद्य बुलाने का प्रबंध हो रहा है'—जब यह समाचार पं० भगतराम के कान में पड़ा, तो वह सकते की हालत

में हो गये। भूख-प्यास एवं नींद सब खो गई। ज़मींदार बाबू के यहाँ उनके स्थान पर कोई दूसरा सौभाग्यशाली वैद्य आकर गहरी रक़म ऐंठ ले जायगा--इससे ज्यादा अशुभ समाचार उनके लिए असंभव था। आख़िर, ज़मींदार बाबू हमसे क्यों नाराज़ हो गये! कहीं किसी ने जाकर कोई शिकायत न कर दी हो। बड़े आदमी ठहरे, जैसा लोगों ने सुझाया, वैसा ही सच मान लिया। भला, हमारे मौजूद रहते हुए किसकी हिम्मत है, जो इस गाँव में पैर रख सके। एक म्यान में दो तलवारें कभी नहीं रह सकतीं। या तो फिर वही रहेगा, या मैं ही। इसी प्रकार बड़बड़ाते हुए वह अत्यंत उद्विग्न हो उठे।

जब किसी प्रकार चित्त शांत न हुआ, तो सगुन वचार कर लाठी के सहारे सीधे बाबू हरिविहारी की ड्योढ़ी पर जा धमके। द्वार पर ही उनकी भेंट प्रभावती से हो गई। स्त्रियाँ विशेषतः पुरुषों से अधिक उदार एवं सहृदय होती ही हैं, अतएव वैद्यजी इसे अत्यंत शुभ-चिह्न समझ कर मन-ही-मन अपने ज्योतिषविषयक ज्ञान की स्वयं दाद देने लगे। अपने पक्ष की उन सब दलीलों को, जिन्हें वह रास्ते-भर बड़े परिश्रम से रटते आये थे, एक-एक करके प्रभावती के सम्मुख इस कौशल से रक्खा कि इच्छा न रहते हुए भी वह उन्हें इनकार न कर सकी।

* * *

बड़े ठाट-बाट से वैद्यजी ने रोगी का इलाज करना शुरू किया। अपनी विजय पर इतने प्रसन्न थे, मानो तीनों लोक की संपदा पा गये हों। दिन-रात रुग्ण-शय्या के पास धरना-ऐसा दिये हुए बैठे रहते। अब वह केवल वैद्य ही न थे--कभी औषध की व्यवस्था करते हुए वैद्यक का पेशा करते होते, कभी पूजा-पाठ एवं माला आदि जपते हुए पंडिताई करते दिखलाई पड़ते, और कभी पत्रे से भविष्य-फल का विचार करते हुए ज्योतिषी बने नज़र आते। तात्पर्य यह कि हर समय कुछ-न-कुछ करते ही रहते। यहाँ तक कि भविष्य के आर्थिक लाभ की आशा में उनके नित्य-नियम आदि धार्मिक कृत्य तक काफ़ूर हो गये !

(६)

ईश्वर की कृपा तथा वैद्यजी के कठिन परिश्रम से ठीक इक्कीसवें दिन रोग का भोग पूरा हो गया, और बच्चे का मियादी बुख़ार एकाएक उतर गया। वह धीरे-धीरे चंगा होने लगा। यह देखकर प्रभावती के हर्ष की सीमा न रही। घर-भर में आनंद के बाजे बजने लगे। परिजनों में सभी के चेहरे एक अलौकिक हर्ष से चमक उठे। वैद्यजी की ख़ुशी का तो कहना ही क्या? अभिमान-पूर्वक सिर उठाकर बोले--"लो, बधाई। ईश्वर ने मेरी लाज रख ली।"

उत्तर में प्रभावती ने आंतरिक कृतज्ञता प्रकट कर रुपयों की एक छोटी-सी थैली उनके आगे रख दी, और कहा—"आपने कृपापूर्वक जिस प्रकार अपने उद्योग-कौशल से रोगी के प्राण बचाये हैं, उसके लिए हम सब आपका अत्यंत आभार मानते हैं। यद्यपि इस महान् उपकार की क़ीमत चुका सकने में हम सर्वथा असमर्थ हैं, तो भी एक सौ रुपये की यह तुच्छ भेंट आपकी सेवा में अर्पित कर आशा करते हैं कि आप इसे स्वीकार कर हमें अनुगृहीत करेंगे। यदि आपने ऐसी ही दया इसके पूर्व सुखिया के घर में इस बच्चे पर दिखाई होती, तो शायद......"

वैद्यजी को पैरों के नीचे की धरती खिसकती-सी प्रतीत होने लगी। उन्हें ऐसा मालूम पड़ा, मानो सामने प्रलय हो रही हो। 'ऐं! तो क्या यह वही रामूँ है?'—छूत के भय से उन्होंने पहले रामूँ के चेहरे को कभी नज़र भरकर देखा भी न था। और, अब तो उस वैभवसम्पन्न गृह के अद्भुत आलोक तथा प्रभावती की एक अलौकिक स्नेह की दीप्ति ने उसे बिलकुल ही बदल दिया था।

लेकिन वैद्यजी को अधिक देर तक असमंजस में न रहना पड़ा। तुरन्त ही सुखिया ने आकर वैद्यजी को लाख-लाख दुआ दी, और अपने बुढ़ापे के एकमात्र

सहारे--रामूँ--की बलैयाँ लेकर उसे अपनी छाती से लगा लिया।

वैद्यजी मूर्छित होकर गिरना ही चाहते थे कि इतने में नौकरों ने उन्हें सम्हाल लिया। क्षण-भर में यह समाचार बिजली की तरह सारे गाँव में फैल गया और सब लोग वहाँ एकत्र हो गये।

पं० भगतराम के बदन में काटो तो ख़ून नहीं। जब कुछ होश आया, तो अपनी स्वार्थपरता पर ख़ून के आँसू बहाते हुए कर्म ठोंकने लगे।

भीड़ में से एक नवयुवक ने पूछा--"कहिए पंडितजी, अब आपका वह सब धर्म-कर्म कहाँ गया?"

दूसरा झट बोल उठा—"अरे भाई! अब 'पंडितजी' कहकर उन्हें क्यों नाहक़ ज़लील कर रहे हो? जब वह अपने तथा अपने पवित्र-से-पवित्र धर्म-ग्रन्थों को दिन-रात रामूँ के सिरहाने रखकर छूत से भ्रष्ट कर चुके हैं, तो अब वह पंडित ही कहाँ रहे?"

उपस्थित ब्रह्म-मंडली में सभी ने एक-स्वर से इस बात का समर्थन किया।

पर वैद्यजी यह कहकर अपनी जान छुड़ाने लगे कि मुझसे यह सब अनजान में हुआ है, अतएव मैं इस दंड का अधिकारी नहीं। फिर शास्त्र में ब्राह्मण का अशुद्ध होना भी तो कहीं नहीं लिखा है।

सनातनधर्म-मंडली ने अपने स्थायी सभापति की--जो दूसरों के लिए अछूतों की छाया-मात्र पड़ जाने से ही तुरन्त उनके भ्रष्ट हो जाने की व्यवस्था दे डालते थे--अपने संबंध में स्वार्थ से भरी हुई जब यह लचर दलील सुनी, तो उन सबकी आस्था इस मिथ्याधर्म के ढोंग से बिलकुल ही उठ गई।

उसी दिन से सबने आपस में मिलकर प्रतिज्ञा की कि आज से अब हम इस व्यर्थ के ढोंगी धर्म को कभी पास तक न फटकने देंगे, और अपने जिन भाइयों को आज तक हमने 'अछूत' कहकर अनेकानेक सामाजिक अधिकारों से वंचित रक्खा है, उन्हें सहर्ष भाई की तरह गले लगावेंगे।

ऐसी संगठित विशुद्ध सामाजिक क्रांति देखकर पं० भगतराम की भी गंभीर निद्रा टूट गई। अब उन्होंने भी सच्चे दिल से उस अस्पृश्यता-निवारक-संघ में सम्मिलित होना स्वीकार कर लिया।

अब उस गाँव में छुआछूत के भूत का नामोनिशान भी कहीं ढूँढ़े नहीं मिलता। वही मन्दिर, जिसमें मनौती मानने के लिए गई हुई सुखिया की वह बुरी गति की गई थी, अब समस्त हिन्दू-मात्र के लिए दिन-रात खुला रहता है।